

ऐसे भी कुछ प्राणी होते हैं जिन्होंने न तो तत्त्वार्थका श्रवण किया और श्रवण किया भी तो उसे ग्रहण नहीं किया। इससे उनमें विनय न आकर उध्दतपना होता है। समझानेसे

तपोगुणाधिकेपुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः ।  
जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥  
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम्<sup>६</sup>  
हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि<sup>६</sup> [ सोम. उपा. ३३५ - ३३७ ]

भावयन्तु - वीर्यान्तरायचारित्रमोहक्षयोपशमे सत्यसकृत् प्रवर्तयन्तु<sup>६</sup> १५१<sup>६</sup>

अधुना -

ध्वजव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः<sup>६</sup>  
परात्मबुद्धिसंपन्नः स्वयमेव परो भवेत्<sup>६</sup> [ समाधि तं. - ८६ श्लो. ]

इति मोक्षमार्गविहरणक्रममुररीकृत्य मैत्र्यादिभावना- स्वाध्याय- व्यवहार- निश्चयध्यान-  
फलप्रकाशनेन महाव्रतनिर्वाहपरांस्तदुपयोगाय जागरयितुमाह -

मैत्र्याद्यभ्यसनात् प्रसद्य समयादावेद्य युक्त्याञ्चितात्  
यत्किंचिद्रुचितं चिरं समतया स्मृत्वातिसाम्योन्मुखम्<sup>६</sup>  
ध्यात्वार्हन्तमुत्स्विदेकमितरेष्वत्यन्तशुद्धं मनः  
सिद्धं ध्यायदहंमहोमयमहो स्याद्यस्य सिद्धः स वै<sup>६</sup> १५२<sup>६</sup>

प्रसद्य - अप्रशस्तरागद्वेषादिरहितं भूत्वा<sup>६</sup> यदाह -

एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिकाः<sup>६</sup>  
ध्वस्तरागादिसंक्लेशा लोकाग्रपथदीपिकाः<sup>६</sup> [ ज्ञानार्णव २७ १५ ]

अर्चितात् - पूजितादनुगृहीतादित्यर्थः<sup>६</sup> रुचितं - श्रद्धया विषयीकृतम्<sup>६</sup>

उलटे नाराज होते हैं<sup>६</sup> ऐसे प्राणियोंमें उपेक्षाभाव रखना माध्यस्थ्य है<sup>६</sup> कहा भी है - जो क्रूर कर्मोंमें निःशंका प्रवृत्ति करते हैं, देवता - गुरुकी निन्दा करते हैं, अपनी प्रशंसा करते हैं, उनमें उपेक्षा भाव रखना माध्यस्थ्य कहा है<sup>६</sup> इस प्रकार उक्त भावनाएँ सतत भानी चाहिए<sup>६</sup> १५१<sup>६</sup>

आगेजो अब्रती है वह व्रत ग्रहण करके और व्रतीको ज्ञानाभ्यासमें तत्पर होकर तथा ज्ञान तत्पर परमात्म - बुद्धिसे सम्पन्न होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है<sup>६</sup>

इस कथनके अनुसार मोक्षमार्गमें विहार करना स्वीकार करके जो उक्त महाव्रतोंका निर्वाह करनेमें तत्पर हैं उन्हें मैत्री आदि भावनाओं, स्वाध्याय तथा व्यवहार निश्चयरूप ध्यानका फल बताते हुए उनकेउपयोगकेलिए सावधान करते हैं -

मैत्री आदि भावनाओंके अभ्याससे अप्रशस्त रागद्वेषसे रहित होकर, आगम अविरुद्ध युक्तियोंसे सुशोभित, आगमसे ध्यान करनेके योग्य जीवआदि वस्तुका यथार्थ रूपसे निर्णय करके जबतक परम उदासीनताकी योग्यता प्राप्त हो तबतक जो कोई चेतन या अचेतन वस्तु रागद्वेषका विषय न होकर श्रद्धाका विषय हो उसका ध्यान करे, और परम औदासीन्य परिणामके प्रयत्नसे तत्पर होते हुए अर्हन्तका अथवा आचार्य, उपाध्याय और साधुमें - से किसी एकका ध्यान करके अत्यन्त शुद्ध सिद्ध परमात्माका ध्यान करे<sup>६</sup> हे महाव्रतोंका पालन करनेमें उद्यत मुनिगण ! ऐसा करते हुए जिस साधुका मन आत्मतेजोमय हो जाता है वही साधु शुद्ध निश्चयवादियोंमें महाव्रतोंका अच्छी तरह पालन करनेवाला माना जाता है अथवा शुद्धस्वरूप परिणत वह ध्याता निश्चयसे सिद्ध है, अर्थात् भावसे परममुक्त होता है<sup>६ १५२</sup>

विशेषार्थ - महाव्रती साधुओंको किस प्रकार अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ना चाहिए, इसका दिग्दर्शन यहाँ किया है<sup>६</sup> सबसे प्रथम अप्रशस्त रागद्वेषसे बचनेकेलिए ऊपर बतलायी

यदाह -

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते<sup>६</sup>  
श्रद्धा यत्रैव जायेत चित्तं तत्रैव लीयते<sup>६</sup> [ समाधि तं श्लो. १५ ]

अपि च -

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः<sup>६</sup>  
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थं तत्र बिभ्रता<sup>६</sup> [ तत्त्वानु. १३८ श्लो. ]

अतीत्यादि<sup>६</sup> उक्तं च -

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते<sup>६</sup>  
ततो ज्ञानस्वभावोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः<sup>६</sup>  
तत्रापि तत्त्वातः पञ्च ध्यातव्याः परमेष्ठिनः<sup>६</sup>

गयी मैत्री आदि भावनाओंका अभ्यास करना चाहिए<sup>६</sup> क्योंकि कहा है - ये भावनाएँ मुनिजनोंमें आनन्दामृतकी वर्षा करनेवाली अपूर्व चन्द्रिकाके समान हैं<sup>६</sup> ये रागादि संक्लेशोंको ध्वस्त करनेवाली मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके लिए दीपिकाके समान हैं<sup>६</sup> इसके साथ ही युक्ति और आगमके अभ्याससे जीवादि तत्त्वोंका निर्णय करके उनमें - से जो रुचे उसका ध्यान करे<sup>६</sup> रुचनेसे मतलब यह नहीं है कि जिससे राग या द्वेष हो उसका ध्यान करे<sup>६</sup> ऐसा ध्यान तो सभी संसारी प्राणी करते हैं<sup>६</sup> रागद्वेषका विषय न होते हुए जो श्रद्धाका विषय हो वह रुचित कहा जाता है<sup>६</sup> कहा है -

जिस किसी विषयमें पुरुषकी बुद्धि सावधान होती है उसी विषयमें उसकी श्रद्धा होती है<sup>६</sup> और जिस विषयमें श्रद्धा होती है उसीमें चित्त लीन होता है<sup>६</sup> तथा - इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या, इस समस्त ध्येयको यथार्थ रूपसे जानकर तथा श्रद्धान करके उसमें माध्यस्थ्य भाव रखकर ध्यान करना चाहिए<sup>६</sup>

अतः ध्येयमें माध्यस्थ्य भाव आवश्यक है क्योंकि ध्यानका प्रयोजन ही परम औदासीन्य भाव है<sup>६</sup> इसलिए ध्याताको उसीके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए<sup>६</sup> अब प्रश्न होता है कि किसका ध्यान करना चाहिए<sup>६</sup> कहा है ज्ञाताके होनेपर ही ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है<sup>६</sup> इसलिए ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम - सबसे अधिक ध्यान करने योग्य है<sup>६</sup> उसमें भी वस्तुतः पाँच परमेष्ठी ध्यान करनेके योग्य हैं<sup>६</sup> उनमें अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी तो सशरीर होते हैं और सिद्ध स्वामी अशरीर हैं<sup>६</sup> ध्यानके चार भेद ध्येयकी अपेक्षासे कहे हैं - पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपपातीत<sup>६</sup> अर्हन्त परमात्माके स्वरूपका चिन्तन रूपस्थ ध्यान है क्योंकि अर्हन्त सशरीर होते हैं<sup>६</sup> और अशरीरी सिद्धोंके स्वरूपका चिन्तन रूपपातीत ध्यान है<sup>६</sup> इन ध्यानोंके स्वरूपका विस्तारसे वर्णन ज्ञानार्णवमें किया है<sup>६</sup> मुक्तिकी प्राप्तिमें ध्यानका बहुत महत्त्व है<sup>६</sup> कहा है ---

यत्रैव जायते श्रद्धा भ. कु. च.<sup>६</sup>

किमत्र बहुनोक्तेन भ. कु. च.<sup>६</sup>

घस च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि<sup>६</sup>

तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम् ---तत्त्वानुशा. ३३ श्लो.<sup>६</sup>

इतरेषु--- आचार्यादिषु त्रिषु मध्ये अहंमहोमयं - आत्मतेजोरूपम् उक्तं च ---

घलवणं व सलिलजोए ज्ञाणे चित्तं विलीयए जस्स ।

तस्स सुहासुहडहणो अप्पा अणलो पयासेइ ॥ [आरा.सार, ८४ गा.]

अहो --- भो महाव्रतपालननोद्यता मनुयः । सिद्धः--- शुद्धनिश्चयवादिनां निर्व्यूढमहासरत्वेन प्रसिद्धः।

तथा चोक्तम् --- छस च मुक्तिहेतुरिध्दःऽ इत्यादि ॥१५२॥

एवं विशेषसामान्यभावना रात्रिभोजनवर्जनपरिकराणि व्रतान्यभिधायं सांप्रतं  
गुप्तिसमितिव्याख्यातुका--- मस्तासां प्रवचनमातृत्वोपपत्तिप्रतिपादनपूर्वकं व्रतोद्यतानामाराध्यत्वमुपदिशति  
----

अहिंसा पञ्चात्म वा व्रतमथ यताङ्गं जनयितु,

सुवृतं पातु वा विमलयितुमम्बाः श्रुतविदं ।

विदुस्त्रिस्तो गुप्तीरपि समितिः पञ्च तदिमाः,

श्रयन्त्विष्टायाष्टौ प्रवचनसवित्रीर्व्रं तपरा : ॥१५३॥

यतः निश्चय और व्यवहाररूप दोनों प्रकारका निर्दोष मोक्षमार्ग ध्यानकी साधनामें प्राप्त होता है  
अतः हे सुधीजनो ! सदा ही आलस्यको त्याग कर ध्यानका अभ्यास करो ध्यानसे मनुष्य तन्मय होकर  
उसी रूप हो जाता है कहा है -

जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है वह उस भावके साथ तन्मय हो जाता है अतः  
अर्हन्तके ध्यानमें तन्मय हुआ आत्मा स्वयं भावअर्हन्त हो जाता है आत्माके स्वरूपको जाननेवाला  
आत्माको जिस भावसे जिस रूपमें ध्याता है उसके साथ वह तन्मय हो जाता है जैसे स्फटिक मणि जिस  
- जिस रंगवाली उपाधिके साथ सम्बन्ध करती है उस - उस रंगवाली हो जाती है अतः अर्हन्त और  
सिद्धके स्वरूपको जानकर उनका ध्यान करना चाहिए दूसरी बात यह है कि ध्यान ही वह अग्नि है  
जिसमें शुभ और अशुभ कर्म जलकर भस्म होते हैं कहा है -जिस योगीका चित्त ध्यानमें उसी तरह  
विलीन हो जाता है जैसे नमक पानीमें लय हो जाता है उसके शुभ और अशुभ कर्मोंको जला डालनेवाली  
आत्मरूप अग्नि प्रकट होती है अतः महाव्रतोंकेपालनमें तत्पर मुनिको ध्यानका अभ्यासी होना चाहिए

इस प्रकार महाव्रतोंका प्रकरण समाप्त होता है १५२

इस प्रकार महाव्रतोंका और उनके सहकारी विशेष और सामान्य भावनाओंका तथा रात्रिभोजन -  
त्यागका कथन करके अब गुप्ति और समितिका व्याख्यान करना चाहते हैं अतः उन्हें आगममें  
प्रवचनकी माता क्यों कहा है इसकी उपपत्ति बताते हुए व्रतोंमें तत्पर साधुओंके उनकी आराधना  
करनेका उपदेश देते हैं ---

महाव्रतभरत्वेन भु.कु.च. ।

उत्तराध्ययनमें कहा है कि इन आठोंमें सम्पूर्ण द्वादशांग अवतरित होता है इसलिए इन्हें प्रवचनमाता कहा  
है --- छअड्डसु वि समिड्रसु अ दुवालसंग अयोअरई जम्हा ।

तम्हा पवयणमाया अज्जयणं होई नायव्वे ॥

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।

अर्हद्धयानाविष्टो भावार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात् ॥

येन भावेनं यदूपं ध्यायत्यत्मानमात्मावित् ।

तेन तन्मयता याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥---तत्वानुशा. १९०-१९१ श्लो.।

यतागुंडं--- यतस्य सावद्यविरतस्य योगवयवायमानस्याङ्गं शरीरम् । अम्बा:--- मातृरिव । यथा जनन्यः पुत्रशरीरं जनयन्ति पालयन्ति शोधयन्ति च तथैताः सम्यक्चारित्रलक्षणं यतिगात्रमित्यर्थः। प्रवचन--- सावित्री:--- प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातृः ॥१५३॥

अथ गुप्तिसामान्यलक्षणंमाह ---

गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः।

पापयोगान्निगृहीयाल्लोकपद्भक्त्यादिनिस्पृहः ॥१५४॥

गोप्तुं--- रक्षितम् । प्रतिपक्षतः--- मिथ्यादर्शपादित्रयात्कर्मबन्धाद्वा । पापयोगान् --- व्यवहारेण पापाःपापार्थाः निश्चयेन च शुभाशुभकर्मकारणत्वान्निन्दिता योगा मनोवाक्कायव्यापारास्तान् । यदाह---

घ्वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकम् ।

त्रियोगरोधकं वा स्याद्यत्तत् गुप्तित्रयं मतम्" [ ज्ञानार्णव १८।४ ]

अहिंसारूपेण अथवा हिंसाविरति आदि पाँच रूपेण सम्यक् चारित्र सावद्ययोगसे विरत साधुका अथवा योगके लिए प्रयत्नशील साधुका शरीर है<sup>६</sup> उसे उत्पन्न करनेके लिए, रक्षण करनेके लिए और निर्मल करनेके लिए माताके तुल्य होनेसे आगमके ज्ञाता पुरुष तीन गुप्तियों और पाँच समितियोंको माता मानते हैं<sup>६</sup> इसलिए व्रतोंका पालन करनेवालोंको इष्ट अर्थकी सिद्धिके लिए इन आठ प्रवचन माताओंकी आराधना करना चाहिए<sup>६</sup> १५३<sup>६</sup>

विशेषार्थ - जैसे माताएँ पुत्रोंके शरीरको जन्म देती हैं, उनका पालन करती हैं, रोगादि होनेपर शोधन करती हैं उसी तरह गुप्ति और समितियाँ मुनिके सम्यक् चारित्ररूपेण शरीरको जन्म देती हैं, पालन करती हैं और शुद्ध करती हैं<sup>६</sup> गुप्ति और समितियोंके बिना सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, रक्षा और निर्दोषता सम्भव नहीं है<sup>६</sup> इसीलिए आगममें इन्हें रत्नत्रयरूपेण प्रवचनकी माता कहा है<sup>६</sup> अतः सामायिक या छेदोपस्थापना चारित्रके आराधक साधुको इनका पालन सावधानपूर्वक अवश्य करना चाहिए<sup>६</sup> इनमें प्रमादी होनेसे महाव्रतकी रक्षाकी बात तो दूर, उनका जन्म ही सम्भव नहीं है<sup>६</sup> १५३<sup>६</sup>

गुप्तिका सामान्य लक्षण कहते हैं -

लोगोंके द्वारा की जानेवाली पूजा, लाभ और ख्यातिकी इच्छा न करनेवाले साधुको सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयस्वरूप अपनी आत्माको मिथ्यादर्शन आदिसे रक्षा करनेके लिए पापयोगोंका निग्रह करना चाहिए १५४

विशेषार्थ - गुप्ति शब्दगोपधातुसे बना है जिसका अर्थ रक्षण है अर्थात् जिससे संसारके कारणोंसे आत्माकी रक्षा होती है उसे गुप्ति कहते हैं इसी अर्थको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकारने गुप्तिका सामान्य लक्षण कहा है क साधुको लोकपूजा आदि लौकिक विषयोंकी इच्छा न करके रत्नत्रयस्वरूप आत्माको रत्नत्रयके प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे बचानेके लिए पापयोगोंका निग्रह करना चाहिए व्यवहारनयसे पाप है पापरूप कार्य और निश्चयनयसे पाप है योग अर्थात् मन-वचन-कायका व्यापार, क्योंकि वह शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्त्रवका कारण है कहा है -मन-वचन-कायसे उत्पन्न अनेक पापसहित प्रवृत्तियोंका प्रतिषेध करनेवाली अथवा तीनों योगोंकी रोधक तीन गुप्तियाँ मानी गयी हैं ६

१. योगया वा यतमान --- भ.कु.च. ।

लोकपङ्क्ति --- लोकपूजा । आदिशब्दाल्लाभख्याती । एतेन सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः इत्यनुसूचितं प्रतिपत्तव्यम् ॥१५४॥

अथ दृष्टान्तेन गुप्तिप्रयोगाय जागरयति ---

प्राकारपरिखाप्रेः पुरवद् रत्नभासुरम् ।

पायादपायादात्मानं मनोवाक्कायगुप्तिभिः ॥१५५॥

वप्रः--- धूलीप्राकारः। रत्नभासुरं --- सम्यग्दर्शनादिभिः स्वस्वजात्युत्कृष्टैश्चार्थैः साधुत्वेन भासमानम् ॥१५५॥

अथ मनोगुह्यत्यादीनां विशेषलक्षणान्याह ---

रागादित्यागरूपामृत समयसमभ्याससध्दयानभूतां,

चेतोगुप्तिं दुरुक्तित्यजनतनुमवाग्लक्षणां वोक्तागुप्तिम्।

कायोत्सर्गस्वभावां विशररतचुरापोहदेहामनीहा ---

कायां वा कायगुप्तिं समदृगनुपतन्पाप्मना लिप्यते न ॥१५६॥

समयः--- आगमः। स त्रेधा शब्दसमयोऽर्थसमयो ज्ञानसमयश्चेति । सद्धानं धर्म्यं शुक्लं च । तथा चोक्तम् ---

उक्त लक्षणसे तत्त्वार्थसूत्रकेसम्यगयोगनिग्रहो गुप्तिःइस लक्षणका ही सूचन होता है<sup>६</sup> इसमें योगका अर्थ है मन वचन कायका व्यापार<sup>६</sup> उसकी स्वेच्छाचारिताको रोकना निग्रह है<sup>६</sup> विषयसुखकी अभिलाषासे प्रवृत्ति निषेधके लिएसम्यक्विशेषण दिया है<sup>६</sup> इस तरहसे काय आदि योगका निरोध करनेपर उसकेनिमित्तसे कर्मका आस्त्रव नहीं होता<sup>६</sup> १५४<sup>६</sup>

आगे दृष्टान्तकेद्वारा गुप्तियोंका पालन करनेकेलिए साधुओंको सावधान करते हैं -

जैसे राजा रत्नोंसे अर्थात् अपनी - अपनी जातिकेउत्कृष्ट पदार्थोंसे शोभायमान नगरकी प्राकार ( अन्दरकी चारदीवारी ), खाई और उसकेबाहरकी कच्ची चारदीवारीसे रक्षा करते हैं उसी रतह व्रतीको सम्यग्दर्शन आदि रत्नोंसे शोभित अपनी आत्माकी रत्नत्रयको नष्ट करनेवाले अपायोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिकेद्वारा रक्षा करनी चाहिए<sup>६</sup> १५५<sup>६</sup>

आगे मनोगुप्ति आदिका विशेष लक्षण कहते हैं -

राग, द्वेष और मोहके त्याग रूप अथवा आगमका विनयपूर्वक अभ्यास और धर्म्य तथा शुक्लध्यानरूप मनोगुप्ति है<sup>६</sup> कठोर आदि वचनोंका त्याग वचनगुप्तिका शरीर है अथवा मौनरूप वचनगुप्ति है<sup>६</sup> शरीरसे ममत्वका त्याग रूप स्वभाववाली अथवा हिंसा, मैथुन और चोरीसे निवृत्तिरूप स्वभावशाली, अथवा सर्व चेष्टाओंसे निवृत्ति रूप वाली कायगुप्ति है<sup>६</sup> समस्त हेय उपादेयको तत्त्व रूपसे देखकर जीवन मरण आदिमें समबुद्धि रखनेवाला साधु इन गुप्तियोंका पालन करते हुए इ ानावरण आदि कर्मोंसे लिप्त नहीं होता<sup>६</sup> १५६<sup>६</sup>

विशेषार्थ - भगवती आराधनामें गुप्तियोंका स्वरूप कहा है ---

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अइव होइ पायारो ।

तह पावस्स गिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८९॥--- भ.आरा. ।

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहिं तं मणोगुत्ति ।

अलियादि णियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ति ॥

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ति ।

हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ति हवदि दिट्ठा ॥ ---भ.आ.११८७- ८८ मि. ।

घविहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान् ।

स्वाधीनं कुर्वतश्चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥

सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा ।

भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः [ज्ञानर्णव १८/१५-१६]

अवाक् --- मौनम् । तथा चोक्तम् ---

घसाधुसंवृत्तवाग्वृत्तेर्मौग्नारुढ वा मुनेः ।

संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामतेः॥ [ ज्ञानार्णव १८।१७ ]

विशरेत्यादि --- हिंसामैथुनस्तेयत्यागरुपांम् । अनीहाकायां ---- अचेष्टारुपम् ।

अपराजित सूरिकी विजयोदया टीकाके आधार पर उनका विवरण दिया जाता है -मनकी रागादि निवृत्तिको मनोगुप्ति कहते हैं<sup>६</sup> यहाँमनकी गुप्तिऐसा जो कहा है तो क्या प्रवृत्त मनकी गुप्ति होती है या अप्रवृत्त मन की ? यदि मन शुभमें प्रवृत्त है तो उसकी रक्षा कैसी ? यदि मन अप्रवृत्त है तो भी उसकी रक्षा कैसी, रक्षा तो सत्की होती है असत्की नहीं<sup>६</sup> सत्को ही अपायसे बचाया जाता है<sup>६</sup> तथा यहाँमनशब्दसे द्रव्य मन लिया है, या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणारूप मन लिया है तो उसका अपाय क्या है जिससे उसको बचाकर उसकी रक्षा की जाये ? दूसरे, द्रव्य मन तो पुद्गल द्रव्य है उसकी रक्षा करनेसे जीवको क्या लाभ? उसके निमित्तसे तो आत्माके परिणाम अशुभ होते हैं<sup>६</sup> अतः आत्माकी रक्षा उससे नहीं हो सकती<sup>६</sup> यदि नो इन्द्रिय- मतिज्ञानावरण कर्मकेक्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ ज्ञान मन शब्दसे लेते हैं तो उसका अपाय क्या ? यदि अपाययसे विनाश लेते हैं तो उससे तो बचाव संभव नहीं है क्योंकि ज्ञान तो विनाशशील है यह बात अनुभवसिद्ध है<sup>६</sup> यदि ऐसान हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमें रही आये<sup>६</sup> ज्ञान तो लहरोंकी तरह उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं<sup>६</sup> उनकेअविनाशका कोई उपाय नहीं है<sup>६</sup> तीसरे, मन इन्द्रियोंके द्वारा रूप पादि विषयोंको ग्रहण करता है तो आत्मामें राग द्वेष उत्पन्न होते हैं<sup>६</sup> अतःमनकी रागादिसे निवृत्तिऐसा कहना ही उचित नहीं है<sup>६</sup> इस शंकाका समाधान करते हैं - यहाँ मन शब्दसे नो इन्द्रियमति ली गयी है<sup>६</sup> वह आत्मामें रागादि परिणामोंके साथ एक कालमें होती है<sup>६</sup> क्योंकि विषयोंके अवग्रह आदि ज्ञानके विना राग द्वेषमें प्रवृत्ति नहीं होती<sup>६</sup> और यह बात अनुभवसिद्ध है इसमें किसी अन्य युक्तिकी आवश्यकता नहीं है<sup>६</sup> किन्तु वस्तुतत्त्वकेअनुरूप मानस ज्ञानके साथ राग द्वेष नहीं रहते, यह बात भा अनुभवसिद्ध है<sup>६</sup> अतः तत्त्वको जाननेवाले मनका रागादिके साथ नहीं होना ही मनोगुप्ति है<sup>६</sup> यहाँ मनका ग्रहण ज्ञानका उपलक्षण है अतः रागद्वेषकेकलंकसे रहित सभी ज्ञान मनोगुप्ति है<sup>६</sup> यदि ऐसा न माना जायगा तो इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मनःपर्यय ज्ञान रूप परिणत आत्माके मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी<sup>६</sup> किन्तु आगममें उनके भी मनोगुप्ति मानी गयी है<sup>६</sup> अथवा जो आत्मामनुतेअर्थात् जानता है, विचार करता है वही मन शब्दसे कहा जाता है<sup>६</sup> उसकी रागदिसे निवृत्ति याराग द्वेषरूपसे अपरिणति मनोगुप्ति है<sup>६</sup> ऐसा कहनेसे सम्यक् योगनिग्रहको गुप्ति कहते हैं, ऐसा कहना भी विरुद्ध नहीं है<sup>६</sup> दृष्ट फलकी अपेक्षा न करके वीर्यपरिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेका निरोध मनोगुप्ति है<sup>६</sup> विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु होनेस और दूसरोंके दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे अलीक आदि वचनोंसे निवृत्ति वचनगुप्ति है<sup>६</sup> शंका - वचन पौद्गलिक है<sup>६</sup> विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु

तदुक्तम् -



घस्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ् संश्रितस्य वा

परीषहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुने :<sup>६</sup> [ ज्ञानार्णव १८ १८ ]

अपि च -

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः<sup>६</sup>

हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिः समुद्दिष्टा<sup>६</sup> [ ]

समदृक्- समं सर्वं हेयमुपादेयं च तत्त्वेन पश्यन् जीवितमरणादौ वा समबुद्धिः<sup>६</sup> १५६<sup>६</sup>

होना आदि वचनका धर्म है उससे संवर नहीं हो सकता क्योंकि वचन आत्माका धर्म नहीं है<sup>६</sup> समाधान-- तो फिर व्यलीक अर्थात् कठोर, आत्मप्रशंसारूप, परनिन्दारूप दूसरोंमें उपद्रव करानेवाले वचनसे व्यावृत्ति वचनगुप्ति है अर्थात् इस प्रकारके वचनोंमें आत्माको प्रवृत्त न करनेवाली वचनगुप्ति है<sup>६</sup> जिस वचनमें प्रवृत्ति करनेसे आत्मा अशुभ कर्मका आस्त्रव करता है उस वचनमें प्रवृत्त न होना वचनगुप्ति है<sup>६</sup> अथवा समस्त प्रकारके वचनोंका परिहार करके मौन रहना वचनगुप्ति है<sup>६</sup> और योग्य वचन न बोलना ही भाषा समिति है<sup>६</sup> इस तरह गुप्ति और समितिमें बहुत भेद है<sup>६</sup> मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहनेसे दोनोंका अन्तर स्पष्ट हो जाता है<sup>६</sup> औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उससे निवृत्ति शरीरगुप्ति है<sup>६</sup> शंका - बैठना, खड़े होना, सोना आदि क्रियाएँ हैं<sup>६</sup> और क्रिया आत्माकी प्रवर्तक है<sup>६</sup> तब कैसे आत्मा शरीरमें भिन्न पदार्थ है अतः अन्य द्रव्यकी पर्यायसे उस पर्यायसे शून्य अन्य द्रव्य व्यावृत्त होता है इसलिए ही आत्माको शरीर क्रियासे निवृत्त कहते हैं तब तो सभी आत्माओंके कायगुप्तिका प्रसंग आता है किन्तु वह मान्य नहीं हैं<sup>६</sup> समाधान - काय शब्दसे काय सम्बन्धी क्रिया ली जाती है<sup>६</sup> उसकी कारणभूत आत्माकी क्रियाको कायक्रिया कहते हैं<sup>६</sup> उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है<sup>६</sup> अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीरकी अपवित्रता असारता और विपत्तिका मूल कारण जानकर उससे ममत्व न करना कायगुप्ति है<sup>६</sup> यदि कायोत्सर्गका अर्थ कायका त्याग लिया जाता है तो शरीर तो आयुकी सांकलसे बँधा है उसका त्याग शक्य नहीं हो सकता<sup>६</sup> अथवा यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति लेना चाहिए, यदि ऐसा न होता तो गाथाकार कायक्रियाकी निवृत्तिको शरीरगुप्ति न कहते<sup>६</sup> कायोत्सर्गसे निश्चलता कही जाती है<sup>६</sup> शंका - यदि ऐसा है तो कायक्रियानिवृत्तिन कहकर कायोत्सर्ग कायगुप्ति है इतना ही कहना चाहिए<sup>६</sup> समाधान - नहीं, क्योंकि कायके विषयमें यह मेरा है इस भावसे रहितपिनेकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग शब्दकी प्रवृत्ति हुई है<sup>६</sup> यदि कायक्रियानिवृत्तिको कायगुप्ति नहीं कहेंगे तो दौडने, चलने, लॉघने आदि क्रियारोंके करनेवालेके भी कायगुप्ति माननी होगी<sup>६</sup> किन्तु ऐसी मान्यता नहीं है<sup>६</sup> और यदि कायक्रियानिवृत्तिको ही कायगुप्ति कहा जाता है तो मूर्च्छित व्यक्तिके भी वैसा पाया जाता है इसलिए उसके भी उसके भी कायगुप्ति हो जायगी<sup>६</sup> इसलिए व्यभिचारकी निवृत्तिके लिए दोनोंका ही ग्रहण करना चाहिए<sup>६</sup> अर्थात् कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त समस्त क्रियाओंकी निवृत्तिके लिए दोनोंका ही ग्रहण करना चाहिए<sup>६</sup> अर्थात् कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त समस्त क्रियाओंकी निवृत्तिको अथवा काय विषयक ममत्वके त्यागको कायगुप्ति कहते हैं<sup>६</sup> अथवा प्राणीके प्राणोंका घात, विना दी हुई वस्तुका ग्रहण, मैथुन,

अथ परमार्थत्रिगुप्तमनूद्य तस्यैव परमसंवरनिर्जरे भवत इत्युपदिशति -

लुप्तयोगस्त्रिगुप्तोऽर्थात्तस्यैवापूर्वमण्वपि  
कर्मास्त्रवति नोपात्तं निष्फलं गलति स्वयम् १५७

गुप्तयोगः - निरुद्धकायमनोवाग्व्यापारः १५७

अथ सिद्धयोगमहिमानमाश्चर्यं भावयति ---

अहो योगस्य माहात्म्यं यस्मिन् सिद्धेऽस्ततत्पथः  
पापान्मुक्तः पुमौल्लब्धस्वात्मा नित्यं प्रमोदते १५८

योगस्य - ध्यानस्य<sup>६</sup> सिद्धे - अप्रमत्तसंयतप्रथमसमयादारभ्यायोगप्रथमसमे व्युपरतक्रियानिवृत्ति-  
लक्षणचतुर्थशुक्लध्यानरूपतया निष्पन्ने<sup>६</sup> अस्ततत्पथः - निराकृतपापमार्गः : परमसंवृत इत्यर्थः :<sup>६</sup>  
लब्धस्वात्मा - मुक्तः सन्<sup>६</sup> १५८

---

शरीरसे परिग्रहका ग्रहण इत्यादि विशिष्ट क्रियाएँ काय शब्दसे ली गयी हैं<sup>६</sup> उनसे व्यावृत्तिको कायगुप्ति कहते हैं<sup>६</sup> गुप्तिके उक्त लक्षणोंमें निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टियोंसे पृथक् पृथक् स्वरूप कहा है<sup>६</sup> यथा - कालुष्य, मोह, संज्ञा, राग - द्वेष आदि अशुभ भावोंका परिहार व्यवहार नयसे मनोगुप्ति है<sup>६</sup> पापके हेतु स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा न करनेको तथा अलीक आदि वचनोंसे निवृत्ति वचनगुप्ति है<sup>६</sup> बाँधना, छेदन, मारण, हाथ - पैरका संकोच - विस्तार आदि कायक्रियाकी निवृत्ति व्यवहार कायगुप्ति है<sup>६</sup> निश्चयनयसे मनकी रागादिसे निवृत्ति मनोगुप्ति है, मौन वचनगुप्ति है, कायक्रिया निवृत्ति या कायोत्सर्ग कायगुप्ति है<sup>६</sup> ( नियमसार गा. ६६-७० )<sup>६</sup> १५६

इस प्रकार परमार्थसे त्रिगुप्तियुक्तका स्वरूप बताकर उसीके परम संवर और निर्जरा होती है ऐसा उपदेश करते हैं -

जिसका मन- वचन- कायका व्यापार रुक गया है वही परमार्थसे तीन गुप्तियोंसे युक्त है<sup>६</sup> उसीके एक परमाणु मात्र भी नवीन कर्मका आस्त्रव नहीं होता और पहले बँधा हुआ कर्म अपना फल दिये बिना स्वयं छूट जाता है<sup>६</sup> १५७

सिद्ध हुए ध्यानके आश्चर्यजनक माहात्म्यको कहते हैं ---

योग अर्थात् ध्यानका माहात्म्य आश्चर्यजनक है जिसके सिद्ध होनेपर आत्मा पापकर्मके आनेके मार्गको सर्वथा बन्द करके और पूर्वबद्ध पापकर्मोंसे मुक्त होकर अपने स्वरूपको प्राप्त करके सदा परम आनन्दका अनुभव करता है १५८

विशेषार्थ - ध्यान ही मुक्तिका एक मात्र परमसाधन है इसकी सिद्धिका आरम्भ अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थानके प्रथम समयसे होता है और पूर्ति अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके प्रथम समयसे होनेवाले व्युपरत क्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानके रूपमें होती है उसी समय मन-वचन कायका सब व्यापार रुक जानेसे परमार्थ त्रिगुप्ति होती है वही अवस्था परमसंवर रूप है उसीसे परम मुक्तिकी प्राप्ति होती है क्योंकि संसारका अभाव होनेपर आत्माके स्वरूप लाभको मोक्ष कहते हैं यहाँपापशब्दसे सभी कर्म लेना चाहिए क्योंकि परमार्थसे कर्ममात्र संसारका कारण होनेसे पाप रूप है १५८

अथ मनोगुप्तेरतीचारानाह ---

रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्यं वा

दुष्प्रणिधानं वा स्यात्मलो यथास्वं मनोगुप्ते : १५९

रागाद्यनुवृत्तिः - रागद्वेषमोहानुगम्यमानात्मपरिणतिः एतस्याश्चातिचारत्वं मनोगुप्तौ सापेक्षत्वे - नैकदेशभङ्गत्वात् एष रागादित्यागरूप पाया मनोगुप्तेरतिचारः १५९

अथ वाग्गुप्तेरतिचारानाह -

कार्कश्यादिगरोद्गारो गिरः सविकथादरः

हुंकारादिक्रिया वा स्याद्वदत्ययः १६०

कार्कश्यादीत्यादि एष दुरुक्तित्यागरूप पाया वाग्गुप्तेरतिचारः हुंकारादिक्रिया - आदिशब्दाद् हस्तसंज्ञा - खात्कारभ्रूचलनादयः एष मौनलक्षणया वाग्गुप्तेरतिचारः १६०

अथ कायगुप्तेरतिचारानाह -

---

मनोगुप्तिके अतीचारोंको कहते हैं -

आत्माकी रागद्वेष मोहरू प परिणति, शब्द - विपरीतता, अर्थ - विपरीतता और ज्ञानविपरीतता तथा दुष्प्रणिधान अर्थात् आर्त - रौद्ररू प ध्यान या ध्यानमें मन न लगाना ये मनोगुप्तिके यथायोग्य अतीचार होते हैं १५९

विशेषार्थ - पहले मनोगुप्तिका स्वरू प तीन प्रकारसे कहा है - रागादिकी निवृत्ति, आगमका अभ्यास और सम्यक्ध्यान १ इन्हीं तीनोंको ध्यानमें रखकर यहाँ मनोगुप्तिके अतीचार कहे हैं १ आत्माकी परिणतिका रागद्वेष मोहका अनुगमन करना यह अतीचार प्रथम लक्षणकी अपेक्षासे कहा है १ मनोगुप्तिकी अपेक्षा रखते हुए ही इसे अतीचार कहा जाता है क्योंकि एक देशके भंगका नाम अतीचार है १ शब्द शास्त्रका विरोधी होना अथवा विवक्षित अर्थको अन्यथारू पसे प्रकाशित करना शब्द - विपरीतता है १ सामान्य विशेषात्मक अभिधेय वस्तु अर्थ है १ केवल सामान्यरू प अथवा केवल विशेष रू प अथवा दोनोंको स्वतन्त्र मानना अर्थ - विपरीतता है १ ये अगमके अभ्यास रू प मनोगुप्तिक अतीचार हैं १ दुष्प्रणिधान अर्थात् आर्त रौद्ररू प ध्यान या ध्यानमें मन न लगाना समीचीन ध्यानरू प मनोगुप्तिके अतीचार हैं १ १५९

वचनगुप्तिके अतीचार कहते हैं -

कर्कशा आदि वचन मोह और संतापका कारण होनेसे विषके तुल्य है १ उसका श्रोताओं के प्रति बोलना और स्त्री, राजा, चोर और भोजन विषयक विकथाओंमें - मार्ग विरुद्ध कथाओंमें आदर भाव, तथा हुंकार आदि क्रिया अर्थात् हुं हुं करना, खकारना, हाथसे या भ्रके चालनसे इशारा करना ये वचन गुप्तिके यथायोग्य अतीचार हैं १ १६०

विशेषार्थ - आगे भाषासमितिके कथनमें कर्कशा परुषा आदि दस वचन दोषोंका कथन करेंगे १ उनका प्रयोग तथा खोटी कथाओंमें रुचि दुरुक्तित्याग रू प वचनगुप्तिके अतीचार हैं १ और हुंकार आदि मौनरू प वचनगुप्तिके अतीचार हैं १ १६०

कायगुप्तिके अतीचारोंको कहते हैं ---

कायोत्सर्गमलाः शरीरममतावृत्तिः शिवादीन्यथा.

भक्तुं तत्प्रतिमोन्मुखं स्थितिरथाकीर्णोऽङ्घ्रिणेकेन सा ।

जन्तुस्त्रीप्रतिमापरस्वबहुले देशे प्रमादेन वा,

सापध्यानमुताङ्गवृत्युपरतिः स्युः कायगुप्तेर्मलाः ॥१६१॥

आकीर्णे --- जनसंकुलस्थाने । एते कायोत्सर्गस्वभावायाः कायगुप्तेरतिचाराः। जन्तु--- इत्यादि । प्रमादेन--- अयत्नाचरणेन । एष हिंसादित्यागलक्षणायाः कायगुप्तेरतिचारः। सापध्यानं--- देहेन हस्तादिना वा परीषहाद्यनयनचिन्तनमात्रपध्यानम् । तेन सहितं यथा भवति । अङ्गवृत्युपरतिः---- शरीरव्यापारनिवृत्तिः। अयमचेष्टारूपायाः कायगुप्तेरतिचारः॥१६१॥

अथ चेष्टितुकामो मुनिः समितिपरः स्यादित्यनुशास्ति ---

गुप्तेः शिवपथदेव्या बहिष्कृतो व्यवहृतिप्रतीहार्या ।

भूयस्तभक्त्यवसरपरः श्रेयत्तत्सखीः शमी समितिः॥१६२॥

---

कायोत्सर्गसम्बन्धी बत्तीस, दोष, यह शरीर मेरा है इस प्रकारकी प्रवृत्ति, शिव आदिकी प्रतिमाके सम्मुख शिव आदिकी आराधना करने जैसी मुद्रामें खड़े होना अर्थात् दोनों हाथोको जोडकर शिव आदिकी प्रतिमाके अभिमुख खडा होना, अथवा जनसमूहासे भरे स्थानमें एक पैरसे खडे होना, ये सब कायोत्सर्गरूप कायगुप्तिके अतीचार हैं । तथा जहाँ जीव जन्तु, काष्ठ पाषाण आदिसे निर्मित स्त्रीप्रतिमाएँ और परधन प्रचुर मात्रामें हों, ऐसे देशमें अयत्नाचार पूर्वक निवास हिंसादित्यागरूप कायगुप्तिका अतीचार है । अथवा उपध्यान सहित शरीरके व्यापारकी निवृत्ति अचेष्टारूप कायगुप्तिका अतीचार है ॥१६१॥

विशेषार्थ --- कायगुप्तिके तीन लक्षण कहे हैं, कायोत्सर्ग, हिंसादिका त्याग और अचेष्टा । इन तीनोंका ही दृष्टिमें रखकर अतीचार कहे है । आगे आठवे अध्यायमें आवश्यकोंका वर्णन करते हुए कायोत्सर्गके बत्तीस दोष कहेंगे । वे सब कायोत्सर्गरूप कायगुप्तिके अतीचार हैं । इसी तरह शिव आदिकी प्रतिमाके सामने वन्दना मुद्रामें खडे होना भी अतीचार है । इससे दर्शकोको यह भ्रम होता है कि यह शिवकी भक्ति करता है । इसी तरह जनसमूहके बीचमें एक पैरसे खडे होकर कार्यात्सर्ग करना भी सदोष है । हिंसा, चोरी और मैथुनके त्यागीको ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहिए जहाँ जीव- जन्तुआंकी बहुतायत हो या स्त्रियोंकी प्रतिमाएँ हों या असुरक्षित परधन हो । रहना ही पडे तो सावधान होकर रहना चाहिए । असावधानतामें व्रतसे च्युत होनेका भय हैं । निश्चेष्टा होकर शरीर अथवा हाथ आदि द्वारा परीषह आदि दूर करनेका चिन्तन करना अचेष्टारूप कायगुप्तिका अतीचार है । निश्चेष्ट शुभ ध्यानके लिए हुआ जाता है । ऐसे समयमें यदि परीषह आ जाय तो शरीरके द्वारा उसको दूर करनेका चिन्तन भी दोष ही है ॥१६१॥

इस प्रकार गुप्तिप्रकरण समाप्त होता है ।

आगे जो मुनि शरीरसे चेष्टा करना चाहता है उसे समितियोंके पालनमें तत्पर होना चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं ---

चेष्टारूपी प्रतिहारीके द्वारा मोक्षमार्गकी देवी गुप्तिसे बहिष्कृत किया गया जो मुनि पुनः गुप्तिकी आराधनाका अवसर प्राप्त करना चाहता है उसे गुप्तिकी सखी समितिका आश्रय लेना चाहिए ॥१६२॥

व्यवहृति :--- चंष्टा । उक्तं च ---

कर्मद्वारोपमरणरतस्य तिस्रधासतु गुप्तयः सन्ति ।

चेष्टाविष्टस्य मुनेर्निर्दिष्टा : समितयः पञ्च॥६

तत्सखी । अयमर्थः यथा नायकमाराधयितुकामस्य नायकस्यावसरमलभमानस्य तदनुकूलनार्थं तत्सखी- नामाश्रवण श्रेयतस्तथा मुक्षोर्गुप्याराधनपरस्य समितीनां सखीत्वं, चासां नायिकाया इव गुप्तेः स्वभावाश्रयणात् । समितिषु हि गुप्तयो लभ्यन्ते न त गुप्तिषु समितयः ॥१६२॥

अथ निरुत्किगम्यं समितिसामान्यलक्षणं विशेषोद्देशसहितमाह ---

ईर्याभाषेष्णादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः ।

वृत्तयाः पञ्च सूत्रोत्कयुक्त्या समितयो मताः ॥१६३॥

समितयः --- सम्यक्श्रुतनिरुपितक्रमेणेतिर्गतिर्वृत्तिः समितिः ॥१६३॥

अथेर्यासमितिलक्षणमाह ----

---

विशेषार्थ--- अभिप्राय यह है कि जैसे कोई नायक किसी नायिकाकी आराधना करना चाहता है किन्तु अवसर नहीं पाता है वह उस नायिकाको अपना अनुकूल करनेके लिए उसकी सखियोंका सहारा लेता है यही उसके लिए श्रेयस्कर है । उसी तरह जरे मुमुक्षु गुप्तिकी आराधना करना चाहता है उसे समितिका पालन चाहिए। क्योंकि समिति गुप्तिकी सखी है । यतः समिति गुप्तिके स्वभावका अनुसरण करती है अतः समितियोंमें तो गुप्तियाँ पायी जाती हैं किन्तु गुप्तियोंमें समितियाँ नहीं पायी जाती । गुप्तियाँ निवृत्तिप्रधान होती हैं और समितियाँ प्रवृत्तिप्रधान । इसलिए जहाँ समितियोंको गुप्तियोंकी सखी कहा है वहाँ गुप्तियोंको मोक्षमार्गकी देवी कहा है । इस देवीकेद्वारकी रक्षिका है चेष्टा । जैसे द्वार रक्षिका अपने स्वामीकी अवज्ञा करनेवालेको वहाँसे निकाल देती है वैसे ही जो मुनि शारिरीक व्यापार करना चाहता है वह गुप्तिकेद्वारसे हटा दिया जाता है । किन्तु ममुक्षु मुनि मोक्षकी देवी गुप्तिकी आराधना तो नहीं छोडना चाहता । अतः शारिरिक चेष्टा करते हुए भी उसे समितियोंका आलम्बन लेला पडता है । ऐसी स्थितिमें उसे पुनः गुप्तियोंकेपालनका अवसर मिलता है । यदि वह चेष्टा करते हुए भी समितियोंका पालन नहीं करता तो वह गुप्तियोंका पालन नहीं कर सकता और तब उसे मोक्षकी बात तो दूर, मोक्षमार्गकी भी प्राप्ति सम्भव नहीं है । कहा भी हे --- घर्माके आनेके द्वारको बन्द करनेमें लीन साधुके तीन गुप्तियाँ कही हैं और शारिरिक चेष्टा करनेवाले मुनिके पाँच समितियाँ कही हैं ॥१६२॥

आगे समितिके भेदोको नामनिर्देशपूर्वक निरुत्किपूर्वक सामान्य लक्षण कहते हैं ---

आगममें बताये हुए क्रमके अनुसार प्रवृत्तिरूप पाँच समितियाँ पूर्वाचार्योंने कही हैं । ईर्याअर्थात् गमन, भाषा अर्थात् वचन, एषणा अर्थात् भोजन, आदाननिक्षेप अर्थात् ग्रहण और स्थापन तथा उत्सर्ग त्यागना ये उनके लक्षण हैं ॥१६३॥

विशेषार्थ --- समिति शब्द सम और इतिके मेलसे बनता है। घसमड अर्थात् सम्यक् छ्दितिड अर्थात् बति या प्रवृत्तिको समिति कहते हैं। अर्थात् आगममें कहे हुए क्रमके अनुसार गमन आदि करना समिति है। साधुको जीवनयात्राके लिशए पाँच आवश्यक क्रियाएँ करनी पडती हैं --- एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना, बोलना, भोजन, पीछी आदिका ग्रहण, स्थापन और मलमूत्रका त्याग। अतः पाँच ही समितियाँ कही हैं ॥१६३॥

ईर्यासमितिका लक्षण कहते हैं ---

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,  
श्रेयः साधनसिध्दये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते।  
मार्गे कौक्कुकस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,  
कारुण्येन शनैः वदानि ददतः पातुं प्रयत्याङ्गिनः ॥१६४॥

श्रुतार्थविदुषः--- प्रायश्चित्तादिसूत्रार्थ जानतस्तत्रोपयुक्तस्येत्यर्थः। प्रेप्सतः--- पारप्नुमिच्छतः।  
श्रेयः--- साधनसिध्दये--- श्रेयसः साधनानां सम्यग्दर्शनादीनां तदङ्गानां  
चापूर्वचैत्यालयसदुपाध्यायधर्मचार्यादीनां सिध्दिः संप्राप्तिस्तदर्थम्। कामं --- यथेष्टमत्यर्थं वा। जनैः---  
लोकाश्वशकटादिभिः। कौक्कुटिकस्य-- कुक्कुटी कुक्कुटी--- पातमात्रं देशं पश्यतः। पुरो  
युगमात्रदेशप्रेक्षिण इत्यर्थः। प्रयत्या --- प्रयत्नेने। उक्तं च ---

ध्मग्गुज्जोउवओगालंबणसुध्दीहिं इरियदो मुणिणो।  
सुत्ताणुवीचिभणिया इरियासमिदी पवयणम्हि ॥ [ भ. आरा. ११९१ गा. ] ॥१६४॥

प्रायश्चित आदि शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाला जो मुनि आत्मकल्याणके साधन सम्यग्दर्शन आदि और उनके सहायक अपूर्व चैत्यालय, समीचीन उपाध्याय, धर्माचार्य आदिकी प्राप्तिके लिए अपने स्थानसे अन्य स्थानको जाना चाहता है, वह मनुष्य हाथी, घोडे, गाडी आदिके व्दारा अच्छी तरहसे रौदे हुए और सूर्यकी किरणोंसे स्पृष्ट मार्गमें आगे चार हाथ जमीन देखकर दिनमें गमन करता है तथा दयाभावसे प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए सावधानतापूर्वक धीरे- धीरे पैर रखता है। उस मुनिके ईर्यासमिति होती है ॥१६४॥

विशेषार्थ --- भगवती आराधना ( गा. ११९१ ) में कहा है --- मार्गशुध्दि, उतशुध्दि, उपयोगशुध्दि, आलम्बनशुध्दि इन चार शुध्दियोंके साथ गमन करनेवाले मुनिके सूत्रानुसार ईर्यासमिति आगममें कही है। मार्गमें चीटी आदि त्रस जीवोंका आधिक्य न होना, बीजबुकुर, तृण, हरितवृक्ष, कीचड आदिका न होना

मार्गशुद्धि है। चन्द्रमा, नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश अव्यापी होता है। अतः सूर्यका स्पष्ट और व्यापक प्रकाश होना उद्योतशुद्धि है। पैर रखनेके स्थानपर जीवोंकी रक्षाकी भावना होना उपयोगशुद्धि है। गुरु, तीर्थ तथा यतियोंकी वन्दना आदिके लिए या शास्त्रोके अपूर्व अर्थका ग्रहण करनेके लिए या संयतोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए या वैयाकृत्ये करनेके लिए या अनियत आवासके कारण स्वास्थ्यलाभके लिए या श्रमपर विजय प्राप्त करनेके लिए या अनेक देशोंकी भाषा सीखनेके लिए अथवा शिष्यजनोंके प्रतिबोधके लिए गमन करना आलम्बनशुद्धि है। न बहुत जल्दी और न बहुत धीमे चलना, आगे चार हाथ जमीन देखकर चलना, पैर दूर- दूर न रखना, भय और आश्चर्यको त्यागकर चलना, विलासपूर्ण गतिसे न चलना, कूदकर न चलना, भागकर न चलना, दोनों हाथ नीचे लटकाकर चलना, निर्विकार, चपलतारहित, ऊपर तथा इधर- उधर देखकर न चलना, तरुण तृण और पत्तोसे एक हाथ दूर रहकर चलना, पशु- पक्षी और मृगोको भयभीत न करते हुए चलना, विपरीत योनिमें जानेसे उत्पन्न हुई बाधाको दूर मरनेके लिए निरन्तर पीछीसे शरीरका परिमार्जन करते हुए चलना, सामनेसे आते हुए मनुष्योंसे संघट्टन न करते हुए चलना, दुष्ट गाय, बैल, कुत्ता आदिसे बचते हुए चलना, मार्गमें गिरे हुए भूसा, तुष, कज्जल, भस्म, गीला गोबर, तृणोंके ढेर, जल, पत्थर लकड़ीका टुकड़ा आदिसे

१. श्वे.आ.सिध्दसेन गणिकी तत्वार्थभाष्यटीका ( भा.२,पृ.१८७) में इसीकी संस्कृत छाया उद्धृत है---

छउपयोगोद्योतालम्बनमार्गविशुद्धीभिर्यतेशरतः।

सूत्रोदितेन विधिना भवतीर्यासमितिरनवद्या ॥६५॥

अथ श्लोकद्वयेन भाषासमितिलक्षणमाह ---

कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी ।

छेदंकरा मध्यकृशातिमानिन्यनयंकरा ॥१६५॥

भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजन् ।

हितं मितमसंदिग्धं स्याद् भाषासमितो वदन् ॥१६६॥

कर्कशा--- संतापजननी घुर्खस्त्वंड, खलीवदर्धस्त्वंड, न किंचिज्जानासिङ् इत्यादिका । परुषा--- मर्मचानली त्वमनेकदोषदुष्टोऽसीति । छेदंकरा --- छेदकारी वार्यशीलगुणानां निर्मलविनाशकरी । अथवा असद्भूतदोषोभ्दाविनी । मध्यकृशा --- ईदृशी निष्ठुरा वाक् या अस्थनां मध्यमपि कृशति । अतिमानिनी --- आत्मनो महत्त्व- ख्यापनपरा अन्येषां निन्दापरा च । अनयंकरा --- शीलनां खण्डनकारी अन्योन्यसङ्गतानां वा विद्वेष- कारिणी ॥१६५॥

भूतहिंसाकरी ---- प्राणिनां प्राणवियोगकरी । हितं --- स्वपरोपकारकम् ॥१६६॥

बचते हुए, चलना, चोरी और कलहसे दूर रहना इस प्रकारसे गमन करनेवाले यतिके ईर्यासमिति होती है । दयार्वकालिक ( अ. ५, उ. १, सू ३-४) में कहा है ---आगे युगप्रमाण भूमिको देखता हुआ और बीज,



हरियाली, प्राणी, जल तथा सजीव मिट्टीको टालता हुआ चले । दूसरे मार्गके होते हुए गडढे, ऊबड-खाबड भूभाग, ढूँठ और सजल मार्गसे न जावे । पुलकेऊपरसे न जावें ।

दो श्लोकोसे भाषासमितिका लक्षण कहते हैं ---

कर्कशा, परुषा, कट्वी, निष्ठुरा, परकोपिनी, छेदंकरा, मध्यशा, अतिमानिनि, अनयसंकरा और भूतहिंसाकारी इन दस प्रकारकी दुर्भाषाओंको छोडकर हित, मित और उसन्दिग्ध बोलनेवाला साधु भाषासमितिका पालक होता है ॥ १६५- १६६॥

विशेषार्थ --- सन्ताप उत्पन्न करनेवाली भाषा कर्कशा है । जौ तू मुख है, बैल है, कुछ नहीं जानता इत्यादी । मर्मको छेदनेवाली भाषा परुषा है । जैसे, तुम बडे दुष्ट हो, आदि । उद्वेग पैदा करनेवाली भाषा निष्ठुरा है । तू निर्लज्ज है इत्यादि भाषा परकोपिनी है । वीर्य, शील और गुणोका निर्मूल विनाश करनेवाली अथवा असद्भूत दोषोका उभ्दावन करनेवाली भाषा छेदंकरा है । ऐसी निष्ठुर वाणी जो हड्डियोंके मध्यको भी कृश करती है । मध्यकृशा है । अपना महत्त्व और दूसरोंकी निन्दा करनेवाली भाषा अतिमानिनी है । शीलोंका खण्डन करनेवाली तथा परस्परमें मिले हुए व्यक्तियोंके मध्यमें विद्वेष पैदा करनेवाली भाषा अनयसंकरा भाषा है । प्राणियोंके प्राणोका वियोग करनेवाली भाषा भूतहिंसाकारी है । इन दस प्रकारकी दुर्भाषाओंको त्यागकर हित अर्थात् स्वरपके उपकारक, मित अर्थात्

घसच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जभणवज्जं ।

वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुध्दाड्ढ ॥ --- भग. आरा ११९२ गा.।

घपुरओ जुगमायाए पेहमाणो महीं चरे ।

वज्जंत बीयहरियाइं पाणेयदगमट्टियं ॥

ओवयं विसमं खाणु विज्जंलं परिवज्जए ।

संकमेण न गच्छिज्जा विज्जमाणे परक्कमेड ॥

अथ एषणासमितिलक्षणमाह ---

विघ्नाङ्गारादिशक्डाप्रमुखपरिकरेरुद्गमोपाददोर्षाः,

प्रस्मार्य वीरचर्यार्जितममलमधःकर्ममुग् भावशुध्दम् ।

स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवदत्तमघ्न्यैश्च भक्त्या,

कालेऽन्नं मात्रयाऽश्नन् समितिमनुषज्ज्येषणायास्तपोभृत् ॥१६७॥

विनेत्यादि --- अन्तरायादयोऽनन्तराध्याये व्याख्यास्यन्ते । प्रस्मार्थ--- विस्मरणीयमविषयीकृत-  
मित्यर्थः। वीरचर्यार्जितं-- अदीनवृत्योपार्जितम् । पटु--- समर्थम् । विधिवत् --- प्रतिग्रहादिविधानेन ।  
अन्यैः--- ब्राम्हणक्षत्रियवैश्यशूद्रैः स्वदातृगृहाद् वामतस्त्रिषु गृहेत दक्षिणतश्च त्रिषु वर्तमानैः षड्भिः  
स्वप्रति- ग्राहिणा च सप्तमेन । तपोभृत् --- इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं पुष्पान् ॥१६७॥

विवक्षित अर्थके उपयोगह और असन्दिग्ध अर्थात् संशयको उत्पन्न न करनेवाली भाषाको बोलनेवाला  
मुनि भाषासमितिका पालक होता है ॥१६५- १६६॥

एषणा समितिका लक्षण कहते हैं ---

भोजनके अन्तरायोंसे, अंगार आदि दोषोंसे, भोज्य वस्तु सम्बन्धी शंका आदि दोषोंसे तथा उद्गम  
और उत्पादन दोषोंसे रहित, वीरचर्याके द्वारा प्राप्त, पूय, रुधिर आदि दोषोंसे तथा अधःकर्म नातक महान्  
हिंसा दोषसे रहित, भावसे शुद्ध, अपना और परका उपकार करनेवाले शरीरकी स्थितिको बनाये रखनेमें  
समर्थ, विधिपूर्वक भक्तिके साथ ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और सतशूद्रके द्वारा दिया गया भोजन समयपर  
उचित प्रमाणमें खानेवाला तपस्वी एषणा समितिका पालक होता है ॥१६७॥

---

विशेषार्थ --- पाँचवे पिण्डेषणा नामक अध्यायके प्रारम्भमें ही कहा है कि साधुको छियालीस  
दोषोंसे रहित, अधःकर्मसे रहित तथा चौदह मलोसे रहित निर्विघ्नं आहार ग्रहण करना चाहिए । सोलह  
उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दस शंकित आदि दोष, चार अंगारादि दोष ये सब छियरलीस दोष हैं ।  
इनका कथन इसी अध्यायमें असगे आयेगा । एषणा समितिके पालक साधुको इन सब दोषोंको टालकर  
आहार ग्रहण करना चाहिए तथा वह आहार वीरचर्यासे प्राप्त होना चाहिए । स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे श्रावकोंके  
द्वारकी ओरसे जानेपर जो आहार अदीनवृत्तिसे प्राप्त होता है वही साधुके लिए ग्राह्य है । तथा वह आहार  
ऐसा होना चाहिए जो साधुके शरीरकी स्थिति बनाये रखनेमें सहायक हो और साधुका शरीर उसे ग्रहण  
करके अपना और दूसरोंका कल्याण करनेमें समर्थ हो । जिस भोजनसे साधुका शरीर विकारग्रस्त होता  
है, इन्द्रियमद पैदा होता है वह भोजन अग्राह्य है। तथा वह भोजन भक्तिभावसे विधिपूर्वक किसी  
सद्गृहस्थके द्वारा दिया गया हो वह गृहस्थ ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सतशूद्र होना चाहिए । सतशूद्र भी  
दानका अधिकारी माना गया है । आचार्य सोमदेवने नीतिवाक्यामृतमें जिन शूद्रोंमें पुनर्विवाह नहीं होता  
उन्हें सतशूद्र कहा है । यथा --- घसकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः।

तथा लिखा है कि आचारकी निर्दोषता, घर पात्र वगैरहकी शुद्धि तथा शरीर शुद्धिसे शूद्र भी धर्म  
कर्मके योग्य हो जाता है । जिस घरमें साधुका आहार होता हो उस घरके बायीं ओरके तीन घर और दायीं  
ओरके तीन घर इस तरह छह घरोंके दाताओंके द्वारा दिया गया

न लक्षणं तपः पु --- भ.कु. च. ।

अथादानानिक्षेपणसमिति लक्षयति ---

सदृष्टमृष्टं स्थिरमाददित स्थाने त्सजेत्ताशि पुस्तकादि ।

कालेन भूयः कियतापि पश्येदादननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥१६८॥

सदृष्टमृष्टं--- सुदृष्टं पूर्व चक्षुषा सम्यग्निरुपितं सुमृष्टं पश्चात् पिच्छिकया सम्यक् प्रतिलेखितम् स्थिरं --- विश्रब्धमनन्यचित्तमित्यथः। त्यजेत् --- निक्षिपेत् । तादृशि--- सुदृष्टमृष्टे । पुस्तकादि--- आदिशब्दात् कवलिकाकुण्डिकादि द्रव्यम् । उक्तं च ---

धआदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समाजेज्जो ।

दव्वं उच दव्वट्टाणं संजमलध्दीए सो भिक्खू ॥ड[ मूलाचार ३१९]

धसहसाणाभोइददुप्पमज्जिदापव्वेक्खणा दोसो ।

परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा<sup>१</sup> [भ.अृ ११९८ ]॥१६८॥

अथोत्सर्गसमिति निर्देषुमाह ---

आहार भी साधु ग्रहण कर सकता है । वे सब घर एक ही पंक्तिमें लगे हुए होने चाहिए । दूरके या सड़कसे दूसरी ओरके घरोंसे आया आहार साधुकेलिए अग्राह्य होता है ।

श्वेताम्बर परम्परामें धर्मके साधन अन्नपान, रजोहरण, वस्त्र पात्र और आश्राय सम्बन्धी उद्गम उत्पादन एषणा दोषोंका त्यागना एषणा समिति है ॥१६७॥

आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप कहते हैं--

आदाननिक्षेपण समितिके पालक साधुको स्थिर चित्त होकर प्रथम अपनी आँखोंसे अच्छी तरह देखकर फिर पीछीसे साफ करके ही पुस्तक आदिको ग्रहण करना चाहिए और यदि रखना हो तो पहले अच्छी तरह देखे हुए और पीछे पिच्छिकासे साफ किये हुए स्थानपर रखना चाहिए । रखनेके पश्चात् यदि कितना ही काल बीत गया हो तो सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्तिकी सम्भावनासे पुनः उस रखी हुई पुस्तकादिका सावधानीसे निरीक्षण करना चाहिए ॥१६८॥

विशेषार्थ --- अन्य ग्रन्थोंमें भी आदाननिक्षेपण समितिका यही स्वरूप कहा है । यथा --- मूलाचारमें कहा है --- वह भिक्षु संयमकी सिद्धिके लिए आदान और निक्षेपमें द्रव्य और द्रव्यके स्थानको चक्षुकेद्वारा अच्छी तरह देखकर और पीछीकेद्वारा परिमार्जित करके वस्तुको ग्रहण करता और रखता है । भ. आराधनामें कहा है --- बना देखे और विना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना

ससिा नामक पहला दोष है । विना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिका ग्रहण या रखना अनाभांगित नामक दूसरा दोष है । देखेकरके भी सम्यक् रीतिसे प्रमार्जन न करके ग्रहण करना या रखना दुःप्रमृष्ट नामका तीसरा दोष है । पहले देखकर प्रमार्जन किया किन्तु कितना ही काल बीत जानेपर पुनः यह देखे बिना ही कि शुध्द है या अशुध्द, ग्रहण या निक्षेप करना चौथा अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है । इन चारों दोषोका परिहार करनेवालेके आदाननिक्षेपण समिति होती है ॥१६८॥

उत्सर्ग समितिका स्वरुप कहते है ---

१. ध्वन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य चोद्धमोत्पादनैषणादोषवर्जनमेषणा समितिः।

--- तत्त्वार्थभाष्य १।५

निर्जन्तौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोधोज्झिते,  
प्लुष्टे कृष्ट उतोषरे क्षितितले विष्टादिकानुत्सृजन्,।  
द्युः प्रज्ञाश्रमणेन नक्तमभितो दृष्टे विभज्य त्रिधा,  
सुस्पष्टेऽप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्ग उत्तिष्ठते ॥१६९॥

निर्जन्तौ --- द्वीन्द्रियादिजीववर्जिते हरिततृणादिरहिते च । कुशले ---  
वल्मीकाद्यातक्डकारणमुक्तत्वात्प्रशते । विविक्तं--- अशुच्याद्यवस्कररहितं निर्जनं च । प्लुष्टे---  
दवस्मशानाद्यग्निदग्धे । कृष्टे--- हलेनासकृद्- विदारिते । ऊपर ---स्थण्डिले । विष्टादिकान् --- पुरीष-  
मूत्र- मुखनासिकागतश्लेष्मकेशोत्पाटनवालसप्तमधात- पित्तछर्दिप्रमुखान् । द्युः--- दिने । उक्तं च ----

ध्वणदाहकिसिमसिकदे छंडिल्ले अणुपरोधविच्छिण्णे ।  
अवगतजुतुविवित्ते उच्चारदि विसज्जेज्जो ॥  
उच्चारं पस्सवणं खेलं सिघाणयादि जं दवं ।  
अच्चित भूमिदेसे पडिलेहिता विसज्जेज्जो<sup>६</sup> [ मूलाचार, ३२१-२२,]

प्रज्ञाश्रमणेन--- वैयावृतयादिकुशलेन साधुना विनयपरेण सर्वसंघप्रतिपालकेन वेराग्यपरेण  
जितेन्द्रियेण च । विभज्य त्रिधा । इदमत्र तात्पर्यं प्रज्ञाश्रमणेन सति सूर्ये रात्रौ साधूनां विध्मूत्राद्युत्सर्गार्थं  
त्रीणि स्थानानि द्रष्टव्यानि । तथा च सति प्रथमे कदाचिदशुध्दे द्वितीयं द्वितीयेऽपि वाशुध्दे तृतीयं  
तेऽनुसरन्ति। अपहस्तकेन --- विपरीतकरतलेन । उक्तं च ---

दोइन्द्रिय आदि जीवोंसे तथा हरे तृण आदिसे रहित, साँपकी बाँगी आदि भयके कारणोंसे रहित  
होनेसे प्रशस्त, निर्जन तथा विस्तीर्ण, लोगोंकी रोक- टोकसे रहित, वनकी या श्मशानकी आगसे जले  
हुए, या हलके ,द्वारा अनेक बार खोदे गये, अथवा ऊसर भूमिमें दिन-के समय मल,मूत्र,कफ,  
नाक,बाल,वमन आदिका त्याग करनेवाले मुनिके उत्सर्ग समिति होती है । रात्रिके समयमें यदि बाधा हो तो

दिनमें प्रज्ञाश्रमण मुनिके द्वारा अच्छी तरह देखे गये तीन स्थानोंमें -- से किसी एक शुद्धतम स्थानमें विपरीत हाथसे अच्छी तरह देखकर मूत्रादिका त्याग करना उत्सर्ग समिति है ॥१६९॥

विशेषार्थ ---- शरीरके मलोंके त्यागका नाम उत्सर्ग है और उसकी जो विधि ऊपर बतलायी है उस विधिसे त्यागना उत्सर्ग समिति है । जिस स्थानपर मलका त्याग किया जाये वह थूमि उक्त प्रकारकी होनी चाहिए। यह सग दिनमें ही देखा जा सकता है । किन्तु तपस्वी एकाहारी साधुको ररात्रिमें मल-मूत्रकी बाधा प्रायः रुग्णावस्थामें ही होती है । इसलिए उसकी विधि यह है कि जो साधु वैयावृत्यमें कुशल, विनयी, सर्वसंघका पालक, वैरागी और जितेन्द्रिय होता है उसे प्रज्ञाश्रमण कहा जाता है, वह दिनमें जाकर रात्रिमें साधुओंके मलत्यागके लिए तीन स्थान देख रखता है । यदि पहला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा, दूसरा अशुद्ध हो तो तीसरा स्थान काममें लाया जाता है । ऐसा करते समय साधु उस स्थानको हथेलीके उलटे भागसे अच्छी तरह स्पर्श करके देख लेते हैं कि स्थान शुद्ध है या नहीं, तब मलत्याग करते हैं । मूलाचारमें कहा है ---

वनकी आगसे जले हुए, कृषि द्वारा जोते हुए, लोंगोकी रोक- टोकसे रहित, निर्जन्तुक एकान्त भूमिदेशमें मल- मूत्रादि त्यागना चाहिए । टट्टी, पेशाब, नाक, थूक आदि निर्जन्तुक भूमिप्रदेशमें प्रतिलेखन कारकेत्यागना चाहिए ।

घरात्रौ च तत्त्यजेत् स्थाने प्रज्ञाश्रमणवीक्षिते ।  
कुर्वन् शकडानिरासायावहस्तस्पर्शनं मुनिः ॥  
द्वितीयाद्यं भवेत्तच्चेदशुद्धं साधुरिच्छति ।  
लघुत्वस्यावशे दोषे न दद्याद् गुरुकं यतेः ॥ड [ ] ॥१६९॥

अथ निरतिचारसमितिपरस्य हिंसाद्यभावलक्षणं फलमाह ----

समितिः स्वरूपतो यतिराकविशेषतोऽप्यनतिगच्छन् ।  
जीवाकुलेऽपि लोके चरन्न युज्येत हिंसाद्यैः ॥१७०॥

स्वरूपतः--- यथोक्तलक्षणमाश्रित्य । यतिः--- यत्नपरः साधुः । आकारविशेषतः--- यथोक्त मार्गादिविशेषलक्षणमाश्रित्य । अनतिगच्छन् --- अतिचारविषयी अकुर्वन् ॥१७०॥

अथ समितिनां माहात्म्यमनुवर्धयंस्तासां सदासेव्यम्बमाह ---

पापेनान्यवधेऽपि पद्ममणुशोऽप्युद्गोव नो लिप्यते ,  
यद्युक्तो यदनादृतः परवाधाभावेऽप्यलं वध्यते ।  
यद्यांगादधिरुह्य संयमपदं भान्ति व्रतानि द्वया---

अणुशोऽपि--- अल्घेनापि अल्पमपि वा । उद्गा --- उदकेन ।

पादमासनिशाहृदययूषदोर्दन्तनासिकोदकासनशकृद्यकृदसृजां पन्मासनिशहृद्यूषन्दोषन् दत् वस्  
उदन् आसन् शकन् यकन् असनो वा स्यादावघुटीत्यनेनोदकस्योदन् । उक्तं च ---

रात्रिकें सम्बन्धमें लिखा हैं ----मुनिको रात्रिमें प्रज्ञाश्रमणके द्वारा निरीक्षित स्थानमें मलत्याग  
करना चाहिए । यदि स्थानकी शुद्धिमें शंका हो तो उलटे हाथसे स्पर्श करके देख लेना चाहिए । यदि वह  
अशुद्ध हो तो दूसरा स्थान देखना चाहिए । यदि मलत्याग शीघ्र हो जाये तो मुनिको गुरु प्रायश्चित्त नहीं  
देना चाहिए; क्योंकि उस दोषमें उसका वश नहीं था ॥१६९॥

आगे कहते हैं कि निरतिचार समितियोंका पालन करनेवाले साधुको हिंसा आदिके अभावरूप  
फलकी प्राप्ति होती है ----

पूर्वमें समितियोंका जो सामान्य स्वरूप कहा है उसकी अपेक्षासे और मार्ग आदि विशेषाणोंकी भी  
अपेक्षासे जो साधु उनके पालनमें तत्पर रहता है और अतिचार नहीं लगाता, वह साधु त्रस और स्थावर  
जीवोंसे भरे भी लोकमें गमनादि करनेपर हिंसा आदिके दोषोंसे लिप्त नहीं होती ॥१७०॥

समितियोंके माहात्म्यका वर्णन करते हुए उनके सदा पालन करेकी प्रेरणा करते हैं ---

जिन समितियोंका पालक साधु अन्य प्राणीके प्राणोंका दैववश घात हो जानेपर भी जलसे  
कमलकी तरह किंचित् भी पापसे लिप्त नहीं होता, और जिन समितियोंके प्रति असावधान साधु अन्य  
प्राणिका घात न होनेपर भी पापसे अच्छी तरह धृता है, तथा जिन समितियोंके सम्बन्धसे संयमपदपर  
आरोहण करनेसे अणुव्रत और महाव्रत चमक उठते हैं तथा गुप्तियाँ शोभित होती हैं उन समितियोंका  
पालन साधुओंको सदा करना चाहिए ॥ १७१॥

अजदाचारो समणो छस्सुवि काएसु बंधगोत्ति मदो ।

चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले निरुवलेवो"[ प्रवचनसार, ३/१८ गा. ]]

द्वयानि --- महान्त्यणूनि च । तथा चोक्तं वर्गणाखण्डस्य बन्धनाधिकारे ----

छसंजमविरईणं को भेदो ? ससतिदी महव्वयाणुव्वयाइ संजमो । ससिदीह विणा महव्वयाणुव्वयाइं  
विरदीं इति॥ [ धवला पु. १४, पृ. १२]

उभ्रान्ति --- उद्भासन्ते । समितिषु गुप्तिसद्भावस्य प्राग् व्याख्यातत्वात् । नित्यं ---  
गुप्तिकालादन्यदा । इत्या गम्याः सेव्या इत्यर्थः ॥१७१॥

अथ शीलस्य लक्षणं विशेषांश्चोपदिशन्नुपेयत्वभिधते ---

शीलं व्रतपरिक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम् ।  
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्षमादियममलात्ययं क्षमादिश्च ॥१७२॥

---

विशेषार्थ --- समितियोंका मूल्यांकन करते हुए उनकी चार विशेषताओंका कथन किया है । प्रथम, जैसे कमल जलमें रहते हुए भी अणुमात्र भी जलसे लिप्त नहीं होता वैसे ही समितियोंका पालन साधु कदाचित् दैववश प्राणिघात हो जानेपर भी किंचित भी पापसे लिप्त नहीं होता । प्रवचनसारमें कहा है ---ईर्यासमितिसे चलनेवाले साणुके पैर उठानेपर उनके चलनेके स्थानपर यदि कोई क्षुद्र जन्तु आ पडे और उनके सम्बन्धसे कुचलकर मर भी जाये तो उस साधुको उस हिंसाके निमित्तसे सूक्ष्म- सा भी बन्ध आगममें नहीं कहा है । क्योंकि साधु समितिमें सावधान है उसके मनमें हिंसाका लेश भी भाव नहीं है । दूरे, जो समितिमें सावधान नहीं होता उसकेद्वारा कीकीका घात नहीं होनेपर भी पापबन्ध होता है<sup>६</sup> कहा है ---

छअयत्नाचारी श्रमण छहों कार्योंमें बन्धका करनेवाला माना गया है । यदि वह सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करता है जो जलमें कमलकी तरह सदा निरुपलेप बन्धरहित है<sup>६</sup> तीसरे, संयमका सम्बन्ध समितिके साथ है । समितिके बिना संयमपदपर आरोहण सम्भव नहीं है अतः समितिके पालनसे ही अणुव्रत और महाव्रत शोभित होते हैं । उसके बिना नहीं । षट्खण्डगमके अन्तर्गत वर्गणा खण्डके बन्धन अनुयोगारकी धवलटीकामें कहा है ---

छसंयम और अवरतिमें क्या भेद है ? समितिके साथ महाव्रत अणुव्रतांकी संयम कहते हैं । और समितिके बिना महाव्रतो और अणुव्रतोंको विरति कहते हैं । अतः समितियोंका पालन अणुव्रती गृहस्थके लिए भी आवश्यक है । चौथे, समितिके योगसे ही गुप्तियाँ दीप्त होती हैं क्योंकि समितियोंमें भी गुप्तिका सभ्दाव है यह पहले बतलाया है । यहाँ समितियोंको सदा पालन करनेका निर्देश किया है । इसका अभिप्राय इतना ही है कि गुप्तियोंके पालनसे अतिरिक्त समयमें समितियोंका पालन करना चाहिए ॥१७१॥

इस प्रकार समितिका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब शीलका लक्षण और भेदोंका कथन करते हुए उसकी उपादेयता बतलाते हैं ---

जिसकेद्वारा व्रतोंकी रक्षा होती है उसे शील कहते हैं । पुण्यास्त्रवमें निमित्त मन- वचन- कायकी परिणति, तीन अशुभ योंगोसे निवृत्ति, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहकी अभिलाषारूप चार संज्ञाओसे

निवृत्ति, स्पर्शन, रचना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियोंका निरोध, पृथ्वीकायिक आदि दस प्रकारके जीवोंके प्राणोंके घातसे निवृत्तिरूप दस यमोंके

शुभयोगवृत्ति--- पुण्यादाननिमित्तमनोवाक्कायव्यापारपरिणति सर्वकर्मक्षयार्था वा गुप्तित्रयीम् । इतरहतिं --- अशुभयोगानिराकृतित्रयीम् । संज्ञाविरतिं--- आहार- भय- मैथुन- परिग्रहाभिलाषानिवृत्तिचतुष्टयीम् । अक्षरोधं --- स्पर्शन--- रसन--- घ्राण--- चक्षुः--- श्रोत्रसंवरणं पञ्चतयम् । क्षमादियममलात्ययं --- क्षमादयो दश । तद्यथा---

धूमिरापोऽनलो वायुः प्रत्येकानन्तकायिका :।

द्विकत्रिकचतुःपञ्चेन्द्रिया दश धरादयः" [ ]

तेषु यमाः प्राणव्यपरोपणोपरमा विषयभेदाद्दश । तेषां मलात्ययाः प्रत्येकमतीचारनिवृत्तिस्तं दशयतम् । क्षमादीन् ---- क्षमा- मार्दवार्जव- शौच- सत्य- संयम- तपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रम्हचर्याणि दश । तेषामन्योन्नं गुणेनं अष्टादशशीलसहस्राणि भवन्ति । तद्यथा --- शुभयोगवृत्तिभिस्तिसृभिरभ्यसता अशुभयोगनिवृत्तयस्तिस्त्रो नव शीलानिस्युः । तानि क्षमादियममलात्ययैर्दशभिर्हतान्यष्टादशातानि स्युः । तान्येव पुनः क्षमादिभिर्दशभिः : संगुणितान्यष्टादशसहस्राणि शीलानि स्युः । तथा चोक्तम् ----

---

दस अतिचारोंकी विशुद्धी तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आर्किञ्चन्य और ब्रम्हचर्यरूप दस धर्म, इन सबका परस्परमें गुणन करनेसे शीलके अठारह हजार भेद होते हैं ॥१७२॥

विशेषार्थ --- शीलके अठारह हजार भेदोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है --- तीन शुभयोगरूप प्रवृत्तियोंसे तीन अशुभयोग निवृत्तियोंसे गुणा करनेसे  $3 \times 3 = 9$  नौ शील होते हैं । इन नौको चार संज्ञाओंकी चार निवृत्तियोंसे गुणा करनेसे छत्तीस भेद होते हैं । छत्तीसको पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी पाँच निरोधोंसे गुणा करनेपर एक सौ अस्सी भेद होते हैं । उन्हें पृथ्वी आदि यम सम्बन्धी अतीचारोंकी दस निवृत्तियोंसे गुणा करनेपर अठारह सौ भेद होते हैं ।

पृथिवी आदि दस इस प्रकार हैं ---पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक और अनन्तकायिक तथा दो- इन्द्रिय, ते- इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये जीवोंके दस प्रकार हैं । इनके प्राणोंके घातके त्यागरूप दस ही यम हैं । उनमें इ से प्रत्येकके अतीचारकी निवृत्तिके क्रमसे दस ही निवृत्तियाँ हैं । इनसे १८० को गुणा करनेपर अठारह सौ भेद होते हैं । पुनः उन भेदोंको क्षमा आदि दस धर्मोंसे गुणा करनेपर अठारह हजार भेद शीलके होते हैं । कहा भी है --- छत्तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रिय, दस जीव संयम और दस धर्म ( $3 \times 3 \times 4 \times 5 \times 9 \times 9 \times 9$ ) इनको परस्परमें गुणा करनेसे शीलके अठारह हजार भेद होते हैं । जो मुनिश्रेष्ठ मनोयोग और आहारसंज्ञासे रहित है, मनोगुप्तिका पालक है, स्पर्शन इन्द्रियसे संवृत है, पृथिवीकायिक सम्बन्धी संयमका पालक है, उत्तम क्षमासे युक्त है, उस विशुद्ध मुनिके शीलका पहला भेद होता है । शेषमें भी इसी क्रमसे जानना । अर्थात् वचनगुप्तिका



पालक करनेवाले उक्त मुनिराजके शीलका दूसरा भेद होता है । कायगुप्तिके पालक उक्त मुनिराजके तीसरा भेद होता है । वचनयोगसे रहित मनोगुप्तिकेपालक उक्त प्रकारके मुनिराजके चौथा भेद होता है । वचनयोगसे रहित वचनगुप्तिके पालक उक्त मुनिराजके पाँचवाँ भेद होता है । वचनयोगसे रहित कायगुप्तिकेपालक उक्त मुनिराजके छठा भेद होता है ।

घ्तीन गुप्तियों काड एक पंक्तिमें स्थापित करके उनके ऊपर तीन करण उसी प्रकारसे स्थापित काके उसके पश्चात् क्रमसे चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रियाँ, पृथिवी आदि दस, तथा दस धर्मोंकी स्थापना करके पूर्वोक्त क्रमसे शेष शीलकोंके भी तब तक कहना चाहिए जब तक

घ्योग करणसंज्ञाक्षे धरार्दा धर्म एव च ।  
 अष्टादशसहस्राणि स्युः शीलानि मिथो वधे ॥  
 मनोगुप्ते मुनिश्रेष्ठे मनःकरणवर्जिते ।  
 आहारसंज्ञया मुक्ते स्पर्शनेकन्द्रयसंवृते ॥  
 सधरासंयमे क्षान्तिसनाथे शीलमादिमम् ।  
 तिष्ठत्यविचलं शुध्दे तथा शेषेष्वपि क्रमः ॥ [     ]

द्वितीयादीनि यथा---वाग्गुप्ते मुनिश्रेष्ठेऽ इत्यादिनोच्चारणेन द्वितीयम् । एवं घ्कायगुप्ते मुनिश्रेष्ठेऽ इत्यादिना तृतीयम् । ततश्च घ्मनोगुप्ते मुनिश्रेष्ठे वाक्करणवर्जितेऽ इत्यादिना चतुर्थम् । ततश्चवाग्गुप्ते मुनिश्रेष्ठे वाक्करणवर्जितेऽ इत्यादिना पञ्चमम् । ततश्चकायगुप्ते मुनिश्रेष्ठे वाक्करणवर्जितेऽ इत्यादिना षष्ठं

सभी अक्ष अचल स्थित होकर विशुद्ध होते हैं । इस तरह शीलके अठारह हजार भेद आते हैं ।

श्वेताम्बर परम्परामें भी इसी प्रकार भेद कीं हैं । किन्तु कुछ अन्तर भी है --- तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ, पृथिवीकायिक आदि नौ जीव ( वनस्पति एक ही भेदरूप लिया है) एक अजीवकाय और दस श्रमण धर्म, क्षमा आदि इनको परस्परमें गुणा करनेसे अठारह हजार भेद होते हैं । इस तरह जीव सम्बन्धी दस भेदोंमें एक अजीवकायको लेकर दस संख्या पूरी की गयी हैं । अजीवकायमें महामूल्य वस्त्र, पात्र, सोना, चाँदी, अज आदिका चर्म, कोदां आदिके तृण लिये गये हैं क्योंकि साधुके लिए ये त्याज्य हैं । इनको मिलानेका क्रम घ्नहीं करता हैऽ यहाँ करनेरूप प्रथम योग लिया । घ्मनसेऽ प्रथम करण लिया । घ्आहारसंज्ञासे हीनऽ इससे पहली संज्ञा ली । घ्नियमसे श्रोत्रेन्द्रियसे संवृतऽ इससे प्रथम इन्द्रिय ली । ऐया होते हुए पृथिवीकायिकी हिंसा नहीं करता । इससे प्रथम जीवस्थान लिया । घ्क्षमासे युक्तऽ इससे प्रथम धर्म भेद लिया । इस तरह शीलका एक अंग प्रकट होता है । आगे इसी प्रकारसे मार्दव आदि पदके संयोगसे पृथिवीकायको लेकर शीलके दस भेद होते हैं अर्थात् उक्त प्रथम अंगकी तरह क्षमाके स्थानमें मार्दव, आर्जव आदिको रखनेसे दस भेद होते हैं । तथा इसी तरहसे पृथ्वीकायके स्थानमें जलकाय आदि नौ स्थानोंको रखनेसे सौ भेद होते हैं । ये सौ भेद श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी

होते हैं शेष चक्षु आदि इन्द्रियोंके भी सौ- सौ भेद होनेसे पाँच सौभेद होते हैं । ये पाँच सौ भेद आहारसंज्ञाके \_\_\_\_\_

जोए करणे सण्णा इंदिय भूमादि समणधम्मो य ।

सीलंगसरस्साणं अट्टारसगस्स णिप्पती ॥ ---- पत्र्वाशक १४।३।

णं करति मणेण आहारसण्णाविप्पजढगो उ णियमेण ।

सोइंदियसंवुडो पुढविकायारंभ खंतिजुओ ॥--- पत्र्वा. १४।६।

इय मद्वादिजोगा पुढविकाए भवंति दस भेया ।

आउक्कायादीसु वि इय एते पिंडिय तु सयं ।

आहारसण्णजोगा इय सेसाहिं वि जे इमं तओ पंचो ।

एयं मणेण वइमादिएसु एयं ति छस्सहस्साइं ।

ण करेइ सेसहिं पि य एस सव्वे वि अट्टारा ॥ पत्र्वा .१४।७-९।

शीलं ब्रूयात् । तिस्त्रो गुप्तीः पङ्क्त्याकारेण व्यवस्थाप्योद्धर्ष त्रीणी करणानि तथैव व्यवस्थाप्यानि ततश्चतस्रः संज्ञास्ततः पञ्चेन्द्रियाशणि ततः पृथिव्यादयो दश, ततश्च दश धर्माः, एवं संस्थाप्य पूर्वोक्तक्रमेण शेषाणि शीलानि वक्तव्यानि । यावत् सर्वे अक्षा अचलं स्थित्वा विशुद्धा भवन्ति तावदष्टादशशीलसहस्राणि आगच्छन्ताति ॥१७२॥

सम्बन्धसे होते हैं । इसी तरह शेष तीन संज्ञाओंमें से प्रत्येकके सम्बन्धसे पाँचसौ भेद होनेसे दो हजार भेद होते हैं । ये दो हजार भेद मन सम्बन्धी होते हैं । इसी तरह वचन और काय योगसे भी इतने ही भेद होनेसे छह हजार भेद होते हैं । ये छह हजार भेद कृतङ्ग के हैं कारित और अनुमतितके भी छह- छह हजार भेद होनेसे अठारह हजार भेद होते हैं । शंका--- ये भेद तो एकसंयोगी हैं । दो आदिके संयोगसे मिलाने पर तो बहुत भेद होते हैं । तब अठारह हजार भेद ही क्यों कहे? समाधान ---- यदि श्रावक धर्मकी तरह किसी एक भंगसे सर्वविरति होती तो वैसा सम्भव था । किन्तु यहाँ शीलका प्रत्येक भेद सब भंगोके योगसे ही होता है उसकेविना सर्वविरति सम्भव नहीं है इसलिए अठारह हजार ही भेद होते हैं ।

शीलकी स्थापनाका क्रम इस प्रकार हैं ---

|        |        |       |     |          |      |      |            |       |             |
|--------|--------|-------|-----|----------|------|------|------------|-------|-------------|
| क्षमा  | मार्दव | आर्जव | शौच | सत्य     | संयम | तप   | त्याग      | आर्कि | ब्रम्हचर्य  |
| १      | २      | ३     | ४   | ५        | ६    | ७    | ८          | ९     | १०          |
| पृथ्वी | अप्    | तेज   | वा  | प्रत्ये. | सा.  | दोइ. | तेइन्द्रि. | चौइ.  | पंचेन्द्रिय |
|        |        | २०    | ३०. | ४०       | ५०   | ६०   | ७०         | ८०    | ९०          |
| स्प.   | र.     | घ्रा  | च.  | श्रो.    |      |      |            |       |             |
|        | १००    | २००   | ३०० | ४००      |      |      |            |       |             |

|       |               |                 |              |  |  |  |  |  |  |
|-------|---------------|-----------------|--------------|--|--|--|--|--|--|
| आहार  | भय<br>५००     | मै.<br>१०००     | परि.<br>१५०० |  |  |  |  |  |  |
| मनक   | वाक्क<br>२००० | कायक.<br>४०००   |              |  |  |  |  |  |  |
| म.गु. | व.गु.<br>६००० | का.गु.<br>१२००० |              |  |  |  |  |  |  |
|       |               |                 |              |  |  |  |  |  |  |
|       |               |                 |              |  |  |  |  |  |  |
|       |               |                 |              |  |  |  |  |  |  |
|       |               |                 |              |  |  |  |  |  |  |
|       |               |                 |              |  |  |  |  |  |  |

यश्छेदैर्विधिवद् व्रतादिभिरुपस्थाप्याऽऽघ्न्यदन्वेत्यपि

वृत्तं बाह्य उतान्तरे कथमपि छेदेऽप्युस्थापय---

त्यैतिह्यनुगुणं धुरीणमिह नौम्यैदंयुगीनेषु तम् १७६

सर्वावद्यनिवृत्तिरुप --- सवसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणम् उपगुरु --- दीक्षकाचार्यसमीपे । आदाय-

--

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणमेकं महाव्रतमधिरुढोऽस्मीति प्रतिपद्य सामायिकं --- समये एकत्वगमने भवम्

तदुक्तम् ---

क्रियते यदभेदेन वतानामधिरोपणम्

कषायस्थूलतालीढः स सामायिकसंयमः [ सं.पं.सं. २३९ ]

विशेषार्थ ---- यहाँ चारित्रसे व्रत लिये गये हैं व्रतोंको निर्मल करनेका जो प्रयत्न किया जाता है वही चारित्रकी विनय है । उसीके लिए समिति और गुप्तिका पालन करते हुए इन्द्रियोके इष्टविषयोंमें राग और अनिष्टविषयोंमें द्वेष नहीं करना चाहिए तथा क्रोध, मान आदि कषाय और हास्य आदि नोकषायका कदाचित् उदय हो तो क्रोधाहि नहीं करना चाहिए यही चारित्रकी विनय है इसीसे व्रत निर्मल होते हैं १७५

आगे मुनिपद धारणके नियमोंका कथन करते हुए इस युगके साधुओंमें अग्रणी साधु का भावपूर्वक स्तवन करते हैं ---

जो विधिपूर्वक दीक्षाचार्यके समीपमें सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप सामायिक संयमको स्वीकार करके और निविकल्प सामायिक संयमके भेदरूप पाँच महाव्रत और उनके परिकररूप तेईस मूलगुणोंमें यदि आत्मा प्रमादी होता है तो सामायिक संयमसे उतरकर छेदोपस्थापन संयमको भी धारण करता है ' कदाचित् पुनः सामायिक संयमको धारण करता है और अज्ञान या प्रमादये बाह्य अर्थात् द्रव्यहिंसारूप तथा अन्तर अर्थात् भावहिंसारूप छेदके होनेपर आगमके अनुसार छेदोपस्थापना धारण करता है' इस भरत क्षेत्रमें इस युगके साधुओंमें अग्रणी उस साधुको मैं नमस्कार करता हूँ --- उसका स्तवन करता हूँ १७६

विशेषार्थ --- जो साधु होना चाहता है वह सबसे पहले अपने गुरुजनों, पत्नी, पुत्र आदिसे पूछकर उनकी स्वीकृत लेता है' उनके द्वारा मुक्त किये जानेपर कुल, रूप और वयसे विशिष्ट गुणवान् आचार्यके पादमूलमें नमस्कार करके उनसे अपनानेकी प्रार्थना करता है' यों सच्चे गुरु तो अर्हन्त देव ही हैं किन्तु दीक्षाकालमें निर्ग्रन्थ लिंगकी विधिको बतलाकर वे ही साधुपद स्वीकार कराते हैं इसलिए उन्हें व्यवहारमें दीक्षा- दाता कहा जाता है' पश्चात् सर्वसावद्ययोगके प्रत्याख्यानरूप एक महाव्रतको श्रवण करके आत्माको जानता हुआ सामायिक संयममे आरुढ होता है' सामायिक संयमका स्वरूप इस प्रकार है --- बादर सज्वलन कषायके साथ जो व्रतोंको अभेदरूपसे धारण किया जाता है उसे सामायिक संयम कहते हैं

णमनमित्यथ:---- भ.कु.च.

विधिवत् ङ इत्यत्रापि योज्यम् । विधिर्यथा--- श्रमणो भवितुमिच्छन् प्रथमं तावद् यथाजातरुपधरत्वस्य गमकं बहिरङ्गमन्तरङ्गं च लिङ्गं प्रथममेवे गुरुणा परमेश्वरेणार्हभद्वारकेण तदात्वे च दीक्षका- चार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया संभाव्य तन्मयो भवति । ततो भाव्यभावकभवपवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्तमितस्वपविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तरपरमगुरुन्नमस्क्रियया संभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति ' ततः सत्रसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकममहावतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भगवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमध्यारोहति ' ततः त्रैकालिकधर्मभ्यो विविच्यमानमात्मानं जानन्नतीतप्रत्युत्पन्नानुपस्थितकायवाङ्मनःकर्मविविक्तत्वमधिरोहति ' ततः सर्वसावद्यकर्मायतनं कायमुत्सुज्य यथाजातरुपं स्वरूपमैकाग्रयेणालम्ब्यव्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति ' उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात् साक्षाच्छ्रमणो भवति ' छेदैः---निविकल्पसामायिकसंयमविकल्पैः ' व्रतादिभिः--- पञ्चभिर्महाव्रतैस्तत्परिकरभूतैश्च त्रयोविंशत्या समित्यादिभिर्मूलगुणैः ' उपस्थाप्य--- निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरुढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्तेषु प्रमादितमात्मानमारोप्य ' अन्यत्--- छेदोपस्थापनाख्यं चारित्रम् ' अन्वेति---सामायिकादवतीर्णोऽनुवर्तते ' केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयाङ्गुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्न पुनः सत्रथा कल्याणाभाव एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवतीत्यर्थः'

तथा चोक्तं प्रवनसारचूलिकायाम्----

श्वेताम्बरीय विशेषावश्यक भाष्यमें कहा है ---आत्मा ही सामायिक है क्योंकि सामायिक रूपसे आत्मा ही परिणत होता है' वही आत्मा सावद्ययोगका प्रत्याख्यान करता हुआ प्रत्याख्यान क्रियाके कालमें

सामायिक होता है<sup>६</sup> उस सामायिकका विषय सभी द्रव्य हैं क्योंकि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियाके द्वारा सभी द्रव्योंका उपयोग होता है<sup>६</sup> जैसे हिंसा निवृत्तिरूप व्रतमें सभी त्रस और स्थावर जीव उसकेविषय हैं क्योंकि उसमें सभीकी रक्षा की जाती है<sup>६</sup> इस तरह असत्यनिवृत्तिरूप व्रतमें विषय सभी द्रव्य हैं क्योंकि सभी द्रव्योंके सम्बन्धमें असत्य न बोलना चाहिए इत्यादि<sup>६</sup> सामायिक संयममें आरुढ हुआ आत्मा प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यानके द्वारा मन, वचन, काम सम्बन्धी अतीत, वर्तमान और अनागत कर्मोंसे भिन्न आत्माको जानता है क्योंकि अतीत दोषोंकी निवृत्तिके लिए प्रतिक्रमण, वर्तमान दोषोंकी निवृत्तिके लिए आलोचना और अनागत दोषोंकी निवृत्तिके लिए प्रत्याख्यान किया जाता है<sup>६</sup> पश्चात् समस्त सावद्य कार्योंका स्थान जो अपना शरीर है उससे ममत्वको त्यागकर यथाजात रूप एकमात्र स्वरूपको एकाग्रतासे अवलम्बन करके सर्वत्र समदृष्टि होनेसे श्रमण हो जाता है<sup>६</sup> निर्विकल्प सामायिक संयमके भेद ही पाँच महाव्रत तथा उनके परिकररूप समिति है तो छेदोपस्थापनारूप चारित्रवाला होता है<sup>६</sup> इसका आशय यह है कि स्वर्णका इच्छुक व्यक्ति स्वर्ण सामान्यको यदि कुण्डल या कटक या अँगूठी आदि किसी भी रूपमें पाता है तो उसे स्वीकार कर लेता है उन्हें छोड़ नहीं देता<sup>६</sup> इसी तरह निर्विकल्प सामायिक संयममें स्थिर न रहनेपर निर्विकल्प सामायिक संयमके जो छेद अर्थात् भेद हैं उसमें स्थित होकर

ज्ञानने त्रैकालिक---भ. कु. च.<sup>६</sup>

घआया खलु सामाज्यं पच्चक्खायं तओ हवइ आया<sup>६</sup>

तं खलु पच्चक्खणं आयाए सव्वदव्वाणंङ<sup>६</sup>---वि. भा. २६३४ गा.<sup>६</sup>

जहजादरू वजादं उप्पाडिदक्खेमंसुगं सुध्दं<sup>६</sup>  
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं<sup>६</sup>  
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुध्दीहिं<sup>६</sup>  
लिंगं न परावेक्खं अपुण्णभवकारणं जोण्हं<sup>६</sup>  
आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं नमंसिता<sup>६</sup>  
सोच्चा सवदं किरियं उवड्ढिदो होदि सो समणो<sup>६</sup>  
वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सगमचेलमण्हाणं<sup>६</sup>  
खिदिसयणमदंतंवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च<sup>६</sup>  
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता<sup>६</sup>  
तेसु पमत्तो समणो छेदोवड्ढावगो होदि<sup>६</sup> [ गा. २०५-२०९ ]

अपि - न केवलं छेदोपस्थापनमेवान्वेति किन्तु कदाचित्पुनः सामायिकमप्यधिरोहतीत्यर्थः<sup>६</sup>  
बाह्येचेष्टामात्राधिकृते द्रव्यहिंसारू पे<sup>६</sup> आन्तरे - उपयोगमात्राधिकृते भावहिंसारू पे<sup>६</sup> कथमपि- अज्ञानेन प्रमादेन वा प्रकारेण<sup>६</sup> ऐतिह्यानुगुणं - आगमाविरोधेन इत्यर्थः<sup>६</sup> उक्तं च -

व्रतानां छेदनं कृत्वा यदात्मन्यधिरोपणम्<sup>६</sup>

शोधनं वा विलोपेन छेदोपस्थापनं मतम्<sup>६</sup> [ सं. पं. सं. २४० श्लो. ]

इह - अस्मिन् भरतक्षेत्रे एदंयुगीनेषु - अस्मिन् युगे साधुषु दुष्पमाकाले सिद्धिसाधकेष्वत्यर्थः तं  
- सामायिकादवरुह्य छेदोपस्थापनमनुवर्तमानं पुनः सामायिकेवर्तमानं वा १७६

छेदोपस्थापक हो जाता है प्रवचनसारमें कहा भी है - जन्मसमयके रू प जैसा नग्न दिगम्बर, सिर और दाढी- मूँछके बालोंका लोंच किया हुआ, शुद्ध, हिंसा आदिसे रहित, प्रतिकर्म अर्थात् शरीर संस्कारसे रहित बाह्य लिंग होता है ममत्व भाव और आरम्भसे रहित, उपयोग और योगकी शुद्धिसे सहित, परकी अपेक्षासे रहित जैन लिंग मोक्षका कारण है परम गुरुकेद्वारा दिये हुए दोनों लिंगोंको ग्रहण करके उन्हें नमस्कार करके व्रत सद्वित क्रियोको सुनकर उपस्थित होता हुआ वह श्रमण होता है पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ पाँचो इन्द्रियोंका निरोध, केशलोच, छह आवश्यक, नग्नता, स्नान न करना, भमिशानयन, दन्तधावन न करना, खडे होकर भोजन, एक बार भोजन ये अट्टाईस मूलगुण श्रमणोंके जिनभगवान्ने कहे हैं उनमें प्रमादी होता हुआ छेदोपस्थापक होता है छेदोपस्थापनाके दो अर्थ हैं यथा - व्रतोंका छेदन करके आत्मामें आरोपण करनेको अथवा व्रतोंमें दोष लगनेपर उसका शोधन करनेको छेदोपस्थापन कहते हैं अर्थात् सामायिक संयममें दोष लगनेपर उस दोषकी विशुद्धि करके जो व्रतोंको पाँच महाव्रत रू पसे धारण किया जाता है वह छेदोपस्थापना है सामायिक संयम सर्वसावद्यके त्यागरू पसे एक यम रू प होता है और छेदोपस्थापना पाँच यम रू प होता है छेदोपस्थापनाके पश्चात् सामायिक संयम नहीं होता, ऐसी बात नहीं है पुनः सामायिक संयम हो सकता है और पुनः दोष लगनेपर पुनः छेदोपस्थापना संयम होता है जो सामायिक संयमके प्रदाता दीक्षा देनेवाले आचार्य होते हैं उन्हें गुरु कहते हैं और छिन्न संयमका संशोधन करके जो छेदोपस्थापक होते हैं उन्हें निर्यापक कहते हैं १७६

अथैवं चारित्रस्योद्योतनमभिधायेदानीं तदुव [ तदुद्यम ] नादिचतुष्टयाभिधानार्थमाह -

ज्ञेयज्ञातृतथाप्रतीत्यनुभवाकारैकदृग्बोधभाग्,  
द्रष्टृज्ञातृनिजात्मवृत्तिवपुषं निष्पीय चर्यासुधाम्  
पक्तुं विभ्रदनाकुलं तदनुबन्धायैव कचिद्विधिं,  
कृत्वाप्यामृति यः पिबत्यधिकशस्तामेव देवः स वै १७७

ज्ञेयेत्यादि - ज्ञेयेर्बोध्येर्हेयोपादेयतत्त्वैरुपलक्षितो ज्ञाता शुद्धचिद्रूप आत्मा अथवा ज्ञेयानि च ज्ञाता चेति द्वन्द्वः तत्र तथा यथोएदिष्टत्वेन प्रतीतिः प्रतिपत्तिरनुभवश्चारुभूतिस्तावाकारौ सवरू पे ययोरेकदृग्बोधयोः तात्त्विकसम्यक्त्वज्ञानयोसत्तौ तथाभूतौ भजनम् वृत्तिः - उत्पादव्ययधौव्यैकत्वलक्षणमस्तित्वम् वपुः - स्वभावः उक्तं च -

जीवसहावं गाणं अप्पविदे दंसणं अणणमयं

चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणिदं [ पञ्चस्ति. १५४ ]

इस प्रकार चारित्रके उद्योतनका कथन करके अब उसके उद्यमन आदि शेष चारका कथन करते हैं

ज्ञेय और ज्ञातामें तथा प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन और तथा अनुभूतिरूप सम्यग्ज्ञानके साथ तादात्म्यका अनुभवन करनेवाला, द्रष्टा ज्ञातारूप निज आत्मामें उत्पाद-व्यय-धौव्यरूप वृत्ति ही जिसका स्वभाव है उस चारित्ररूपी अमृतको पानका अनुवर्तन करनेके लिए ही आगमविहित तीर्थयात्रा आदि व्यवहारको करके भी जो उसी चारित्ररूपी अमृतको अधिकाधिक पीता है वह निश्चित ही देव है - महान् पुरुषोंके द्वारा भी आराध्य है<sup>१</sup> १७७<sup>१</sup>

विशेषार्थ - हेय - उपादेय तत्त्वोंको ज्ञेय कहते हैं और उनको जाननेवाले शुद्ध चिद्रूप आत्माको ज्ञाता कहते हैं<sup>१</sup> ज्ञेय और ज्ञातामें अथवा ज्ञेयसे युक्त ज्ञातामें सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा जैसा कहा गया है और जैसा उनका यथार्थ स्वरूप है तदनुसार प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और तदनुसार अनुभूति होना सम्यग्ज्ञान है<sup>१</sup> ये दोनों ही आत्माके मुख्य स्वरूप हैं<sup>१</sup> अतः इन दोनोंको कथंचित् तादात्म्यरूपसे अनुभव करनेवाला उस चारित्ररूपी अमृतको पीता है जिसका स्वरूप है द्रष्टा - ज्ञातारूप निज आत्मामें लीनता<sup>१</sup> और उसे पीनेके बाद पचानेके लिए लाभ पूजा ख्यातिकी अपेक्षारूप क्षोभसे रहित निराकुल रहता है<sup>१</sup> लोकमें भी देखा जाता है कि लोग अमृत आहारको खाकर उसे पचानेके लिए सवारी आदिपर गमन नहीं करते<sup>१</sup> यहाँ चारित्ररूपी अमृतका पान करनेसे उद्यवन सूचित होता है और उसे पीकर निराकुल वहन करनेसे निर्वहण सूचित होता है तथा उस प्रकारके चारित्ररूपी अमृतके पानकी परम्पराको प्रवर्तित रखनेके लिए तीर्थयात्रा आदि व्यवहार धर्मको करनेसे निस्तरण सूचित होता है और उसी चारित्ररूप अमृतको अधिकाधिक पीनेसे साधन सूचित होता है<sup>१</sup>

इस तरह जो उद्यान आदि चार चारित्राराधनाओंमें संलग्न होता है वह निश्चय ही देव है<sup>१</sup> कहा भी है - तपसे हीन ज्ञान मान्य है और ज्ञानसे हीन तप पूज्य है<sup>१</sup> जिसके ज्ञान और तप दोनों होते हैं वह देव होता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन या ज्ञान

१. अप्पडिहद भ. कु. च.<sup>१</sup>

निष्पीय - अतिशयेन पीत्वा<sup>१</sup> एतेनोद्यवनं द्योत्यते<sup>१</sup> पक्तुं - परिणमयितुम्<sup>१</sup> अनाकुलं - लोभादि - क्षोभरहितम्<sup>१</sup> एतेन निर्वहणं प्रतीयते<sup>१</sup> विधिं - सूत्रोक्तं तीर्थगमनादिव्यवहारम्<sup>१</sup> आमृति - मरणवधिं<sup>१</sup> एतेन निस्तरणं भण्यते<sup>१</sup> अधिकशः - अधिकमधिकम्<sup>१</sup> एतेन साधनमभिधीयते<sup>१</sup> देवः<sup>१</sup> उक्तं च -

मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्<sup>१</sup>

द्वयं यस्य स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः<sup>१</sup> [ सो. उपा. ८१५ श्लो. ]

सैषा चरणसिद्धिमूलशुद्धात्मद्रव्यसिद्धिप्रकाशना<sup>१</sup> यदाह -

द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः<sup>६</sup>

बुध्द्वेति कर्माविरताः परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु<sup>६</sup>

[ प्रवचनसार, चरणानुयोगचूलिका ]<sup>६</sup> १७७<sup>६</sup>

अथातश्चतुःश्लोक्या चारित्रमाहात्म्यं श्रोतुकामः प्रथमं तावत् प्ररोचनार्थमानुषिडकमभ्युदयलक्षणं मुख्यं च निर्वाणलक्षणं तत्फलमासूत्रयति -

सद्दृग्ज्ञप्त्यमृतं लिहन्नहरहर्भोगेषु तृष्णां रहन्

वृत्ते यत्नमथोपयोगमुपयन्निर्मायमूर्मीनयन्<sup>६</sup>

तत्किंचित् पुरुषश्चिनोति सुकृतं यत्पाकमूर्च्छन्नव -

प्रेमास्तत्र जगच्छ्रयश्चलदृशेऽपीर्ष्यन्ति मुक्तिश्रिये<sup>६</sup> १७८<sup>६</sup>

और दर्शन जीवका स्वभाव है क्योंकि जीव ज्ञानदर्शनमय है और ज्ञानदर्शन जीवमय है<sup>६</sup> इसका कारण यह है कि सामान्य विशेष चैतन्य स्वभाव जीवसे ही वे निष्पन्न होते हैं<sup>६</sup> जीवके स्वभावभूत उन ज्ञान दर्शनमें नियत अवस्थित जो उत्पाद- व्यय- धौव्यरूप अस्तित्व है जिसमें रागादि परिणामका अभाव है वह अनिन्दित चारित्र है<sup>६</sup> इसका स्पष्टीकरण इसी प्रकार है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन जीवका स्वभाव है क्योंकि सहज शुद्ध सामान्य विशेष चैतन्यात्मक जीवके अस्तित्वसे संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिके भेदसे भेद होनेपर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अभेद है<sup>६</sup> इस प्रकार पूर्वोक्त जीव स्वभावसे अभिन्न उत्पाद- व्यय-धौव्यात्मक निर्विकार अतएव अदूषित जो जीवके स्वभावमें नियतपना है वही चारित्र है क्योंकि स्वरूपमें चरणको चारित्र कहते हैं<sup>६</sup> पञ्चास्तिकायमें कहा भी है - संसारी -अवस्थित अस्तित्वरूप है जो कि परभावमें अवस्थित अस्तित्वसे भिन्न होनेके कारण अत्यन्त अनिन्दित है वही साक्षात् मोक्षमार्ग है अतः मुमुक्षुओंको उसीके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए<sup>६</sup> यह चारित्रकी सिद्धि शुद्ध आत्म द्रव्यकी सिद्धिका मूल है - कहा है - ध्वारित्रकी सिद्धि होनेपर द्रव्यकी सिद्धि होती है और द्रव्यकी सिद्धि होनेपर चारित्रकी सिद्धि होती है<sup>६</sup> ऐसा जानकर कर्मोंसे अविरत दूसरे भी द्रव्यसे अविरुद्ध आचरण करें<sup>६</sup> १७७<sup>६</sup>

इस प्रकार उद्योतन आदि पाँच चारित्राराधनाओंका प्रकरण समाप्त हुआ<sup>६</sup>

अब यहाँसे चार श्लोकोंके द्वारा चारित्रका माहात्म्य कहना चाहते हैं<sup>६</sup> उनमें सबसे प्रथम चारित्रमें रुचि उत्पन्न करनेके लिए चारित्रका अभ्युदयरूप आनुषंगिक फल और निर्वाणरूप मुख्य फल बतलाते हैं -

भोगोंमें तृष्णारहित होकर निरन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूप अमृतका आस्वादन करनेवाला और सम्यक्चारित्रके विषयमें न केवल प्रयत्नशील किन्तु सदा उसका अनुष्ठान



रहन् - त्यजन्<sup>६</sup> यत्नम् - उद्यमम्<sup>६</sup> उपयोगं - अनुष्ठानम्<sup>६</sup> एतेन चारित्र्येऽन्तर्भूतं तपोऽपि व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम्<sup>६</sup> यदाहः -

चरणंमि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होइ<sup>६</sup>

सो चेव जिणेहिं तओ भणिओ असढं चरंतस्स<sup>६</sup> [ भ. आ. १० ]

मूर्छत् - वर्धमानम्<sup>६</sup> चलदृशे - कटाक्षान् मुञ्चत्यै निकटसंगमायै इत्यर्थः<sup>६</sup> तथा चोक्तम् -

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं<sup>६</sup>

जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणपहाणादो<sup>६</sup> [ प्रवचनसार १६<sup>६</sup> ]<sup>६</sup> १७८<sup>६</sup>

अथ सम्यक्चारित्राराधनावष्टम्भात् पुरातनानिहाऽपि क्षेत्रे निरपायपदप्राप्तानात्मनो भवापायसमुच्छेदं याचमानः प्राह -

---

करनेवाला तथा भूख - प्यास आदिकी परीषहोंको निष्कपट रू पसे सहन करनेवाला पुरुष कुछ ऐसे पुण्यकर्मका संचय करता है जिसके उदयसे सांसारिक सम्पत्तियोंका अनुराग उसके प्रति बढ़ जाता है और वे उस पुरुषपर केवल कटाक्षपात ही करनेवाली मुक्तिलक्ष्मीसे ईर्ष्या करने लगती हैं<sup>६</sup> १७८<sup>६</sup>

विशेषार्थ - जो व्यक्ति भोगोंकी तृष्णाको त्याग कर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेके साथ सम्यक्चारित्रकी भी सतत आराधना करते हैं और परीषहोंको निष्कपट भावसे सहते हैं<sup>६</sup> ऐसा कहनेसे चारित्रमें जो उद्योग और उपयोग होता है उसे ही जिनेन्द्रदेवने तप कहा है<sup>६</sup> जो सांसारिक सुखसे विरक्त होता है वही चारित्रमें प्रयत्नशील होता है<sup>६</sup> जिसका चित्त सांसारिक सुखमें आसक्त है वह क्यों चारित्र धारण करेगा<sup>६</sup> अतः बाह्य तप प्रारम्भिक चारित्रका परिकर होता है<sup>६</sup> क्योंकि बाह्य तपसे सब सुखशीलता छूट जाती है तथा पाँच प्रकारकी स्वाध्याय श्रुतभावना है, जो स्वाध्याय करता है वह चारित्ररूप परिणमता है<sup>६</sup> कहा है - श्रुत भावनासे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तप और संयमरूप परिणमन करता है<sup>६</sup> परिणामको ही उपयोग कहते हैं<sup>६</sup> अतः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके साथ जो चारित्रमें उद्योग करता है और उपयोग लगता है यद्यपि ऐसा वह मोक्षके लिए ही करता है फिर भी शुभराग होनेसे किंचित् पुण्यबन्ध भी होता है, उस पुण्यबन्धसे उसे सांसारिक सुख भी प्राप्त होता है<sup>६</sup> प्रवचनसारमें कहा है - दर्शनज्ञान प्रधान बीतराग चारित्रसे मोक्ष होता है और सराग चारित्रसे देवराज, असुरराज और चक्रवर्तीका वैभव प्राप्त करानेवाला बन्ध होता है<sup>६</sup> अर्थात् मुमुक्षुको नहीं चाहते हुए भी मोक्षलक्ष्मीसे पहले संसारलक्ष्मी प्राप्त होती है<sup>६</sup> इसपर ग्रन्थकार कहते हैं कि स्त्रियोंमें ईर्ष्या होती ही है<sup>६</sup> अतः उक्त पुरुषपर मुक्तिलक्ष्मीकी केवल दृष्टि पडते ही संसारलक्ष्मी ईर्ष्यावश कि इसे मुक्ति लक्ष्मी वरण न कर सके उसके पास आ जाती है<sup>६</sup> यदि वह पुरुष उसी संसारलक्ष्मीमें आसक्त हो जाता है तो मुक्तिलक्ष्मी उससे दूर हो जाती है और यदि उपेक्षा करता है तो मुक्तिलक्ष्मी निकट आ जाती है<sup>६</sup> १७८<sup>६</sup>

इसी भरत क्षेत्रमें जो पूर्वमें सम्यक् चारित्रकी आराधनाके बलसे मोक्षपद प्राप्त कर चुके हैं उनसे अपने सांसारिक दुःखोंके विनाशकी याचना करते हैं -

१. सुदभावणाए णाणं दंसण तव संजमं च परिणमदिं भ. आ. १९४ गा. ६

ते केनापि कृताऽऽजवञ्जवजयाः पुंस्पुडवाः पान्तु मां  
तान्युत्पाद्य पुराऽत्र पञ्च यदि वा चत्वारि वृत्तानि यैः ६  
मुक्तिश्रीपरिरम्भशुम्भदसमस्थामानुभावात्मना  
केनाऽप्येकतमेत वीतविपदि स्वात्माभिषिक्तः पदे ६ १७९ ६

केन - शुध्दनिश्चयनयादव्यपदेशेनैकेनैवात्मना ६ अतिशब्दादशुध्दनिश्चयनयेन पुना रत्नत्रयेणापि ६  
आजवञ्जवः - संसारः ६ पुंस्पुडवाः - पुरुषोत्तमाः ६ तानि - प्रसिध्दानि सामायिकादीनि ६ तत्राद्ययोर्लक्षणं  
प्रागुक्तम् ६ त्रयाणां त्विदं यथा -

त्रिशद्वर्षवया वर्षपृथक्त्वेनास्थितो जिनम् ६  
यो गुप्तिसमित्यासक्तः पापं परिहरेत् सदा ६  
स पञ्चैकयमोऽधीतप्रत्याख्यानो विहारवान् ६  
स्वाध्यायद्वयसंयुक्तो गव्यूत्यर्धाध्वगो मुनिः ६  
मध्याह्नकृद्द्विगव्यूती गच्छन् मन्दं दिनं प्रति ६

जिन्होंने पूर्व युगमें इसी भरत क्षेत्रमें उन पूर्वोक्त पाँच चारित्रोंको अथवा उनमें - से चार चारित्रोंको धारण करके शुध्द निश्चयनसे व्यपदेशरहित एक आत्मासे ही और अशुध्द निश्चयनसे रत्नत्रयके द्वारा संसारका नाश किया और जीवन्मुक्तिरूपी लक्ष्मीके आलिंगनसे शोभायमान असाधारण शक्तिके माहात्म्यमय किसी अनिर्वचनीय परमोत्कृष्टके द्वारा अपनी आत्माको दुःखोंसे रहित मोक्षपदमें प्रतिष्ठित किया वे महापुरुष मेरी संसारके कष्टोंसे रक्षा करें ६ १७९ ६

विशेषार्थ - श्लोकमें केनापिपद संसारको विनष्ट करनेके कारणरूपसे प्रयुक्त हुआ है ६ उसका अर्थ होता है घिकिसीसे भीइससे बतलाया है कि उसका नाम नहीं लिया जा सकता ६ यह शुध्द निश्चयनयकी दृष्टि है ६ क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्रके दशम अध्यायके अन्तिम सूत्रके सभी टीकाकारोंने कहा है कि प्रत्युत्पन्नग्राही नयकी अपेक्षा व्यपदेशरहित भावसे मुक्ति होती है ६

इसकी व्याख्या करते हुए भट्टालंकदेवने कहा है - प्रत्युत्पन्नग्राही नयसे न तो चारित्रसे मुक्ति होती है न अचारित्रसे मुक्ति होती है किन्तु एक ऐसे भावसे मुक्ति होती है जो अनिर्वचनीय है ६ भूतपूर्व नयके दो भेद हैं - अनन्तर और व्यवहित ६ अनन्तरकी अपेक्षा यथाख्यात चारित्रसे मुक्ति होती है ६ व्यवहितकी अपेक्षा चार अर्थात् सामायिक छेदोपस्थापक, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रसे या परिहारविशुध्दि सहित पाँच चारित्रसे मुक्ति कही है ६ परिहारविशुध्दि संयम सभीके होना आवश्यक नहीं है

अतः उसके बिना भी मुक्ति हो सकती है<sup>६</sup> हाँ, मुक्तिके समय जो चारित्र और अचारित्र दोनोंका ही निषेध करते

१. चारित्रेण केन सिद्धयति ? अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः<sup>६</sup> - सर्वार्थ. टी.<sup>६</sup>
२. प्रत्युत्पन्नावलेहिनयवशान्न चारित्रेण नाप्यचारित्रेण व्यपदेशरहितभावेन सिद्धिः<sup>६</sup> भूतपूर्वगतिर्द्विधा-  
अनन्तरव्यवहितभेदात्<sup>६</sup> आनन्तर्येण यथाख्यातचारित्रेण सिद्धयति<sup>६</sup> व्यवधानेन चतुर्भिः पञ्चभिर्वा<sup>६</sup>  
चतुर्भिसतावत्<sup>६</sup>  
सामायिकछेदोपस्थापनासूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातचारित्रैः<sup>६</sup> पञ्चभिस्तैरेव परिहारविशुद्धि - चारित्राधिकैः<sup>६</sup>  
<sup>६</sup> -तत्त्वा.वार्तिक<sup>६</sup>

कृतीक्षतकषायारिः स्यात्परिहारसंयमी<sup>६</sup>  
सूक्ष्मलोभं विदन् जीवः क्षपकः शमकोऽपि वा<sup>६</sup>  
किञ्चिदूनो यथाख्याता त् स सूक्ष्मसांपरायकः<sup>६</sup>  
सर्वकर्मप्रभौ मोहे शान्ते क्षीणेऽपि वा भवेत्<sup>६</sup>  
छन्नस्थो वीतरागो वा यथाख्यातयमी पुमान्<sup>६</sup> [ ]

चत्वारि - परिहारविशुद्धिसंयमस्य केनांचिदभावात्<sup>६</sup> स्थाम - शक्तिः<sup>६</sup> केनापि अनिर्वचनीयेन<sup>६</sup> १७९

अथ संयममन्तरेण कायक्लेशादितपोऽनुष्ठानं बन्धसहभाविनिर्जरानिबन्धनं स्यादिति  
सिद्धयर्थिभिरसावाराध्य इत्युपदिशति -

---

हुए व्यपदेशरहित अनिर्वचनीय भावसे मुक्ति बतालायी है वह अवश्य ही चिन्तनीय है<sup>६</sup> क्योंकि यथाख्यात चारित्र तो आत्मस्वभावरूप ही है फिर भी उसका मुक्तिमें निषेध किया है<sup>६</sup> इनमें - से दो चारित्रोंका स्वरूप तो पहले कहा है<sup>६</sup> शेष तीनोंका स्वरूप इस प्रकार है - पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त जो पुरुष सदा सावद्य कार्योंका परिहार करता है और पाँच यमरूप या एक यमरूप संयमका धारक है वह परिहार विशुद्ध संयमी है<sup>६</sup> जो पुरुष तीस वर्षकी अवस्था तक गृहस्थाश्रममें सुखपूर्वक निवास करके दीक्षा लेता है और वर्षपृथक्त्व तक तीर्थकरके बचाकर पादमूलमें रहकर प्रत्याख्यान नामक करके दीक्षा लेता है और वर्षपृथक्त्व तक तीर्थकरके पादमूलमें रहकर प्रत्याख्यान नामक पूर्वका पाठी होता है, तीनों सन्ध्याकालोंको बचाकर प्रतिदिन दो कोस विहार करता है वह परिहारविशुद्धि संयमी होता है<sup>६</sup> सूक्ष्म कृष्टिको प्राप्त लोभकषायके अनुभागके उदयाको भोगनेवाला उपशम श्रेणी अथवा अथवा क्षपक श्रेणी वाला जीव सूक्ष्म साम्पराय संयमका धारक है<sup>६</sup> सूक्ष्म है कषाय जिसके उसे सूक्ष्म साम्पराय संयमी कहते हैं<sup>६</sup> यह यथाख्यात संयमसे किञ्चित् ही न्यून होता है<sup>६</sup> अशुभ मोहनीय कर्मके उपशम या क्षय होनेपर छन्नस्थ उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती तथा सयोगी और अयोगी जिन यथाख्यात संयमी होते हैं, मोहनयके उपशम या क्षयसे आत्मस्वभावरूप जैसी अवस्था है वैसा ही यह संयम जानना<sup>६</sup> १७९<sup>६</sup>

संयमके बिना कायक्लेश आदि रूप तमके अनुष्ठानसे निर्जरा तो होती है किन्तु उसके साथ नवीन बन्ध भी होता है इसलिए सिद्धिके अभिलाषियोंको संयमकी आराधनाक उपदेश देते हैं -

१. कृषीकृत भ. कु. च.°

२. घञ्च समिदो तिगुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं°

तीसं वासो जम्मे वास पुधत्तं खु तित्थयरमूले°

पच्चक्खाणं पढिदो संझूण दुगाउय विहारी°

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवरो वा°

सो सुहुममसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि°

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि°

छदुमद्दो व जिणो वा जहखादो संजदो सो दु° - गो. जीव. ४७१- ७४ गा.°

तपस्यन् यं विनात्मानमुद्वेष्टयति वेष्टयन्°

मन्थं नेत्रमिवाराध्यो धीरैः सिद्धयै स संयमः° १८०°

तपस्यन् - आतापनादिकायक्लेशलक्षणं तपः कुर्वन्° यं विना - हिंसादिषु विषयेषु च प्रवृत्त्यर्थः°  
काग्रलक्षणो व्यवहारेण तु प्राणिरक्षणेन्द्रिययन्त्रणलक्षणः° १८०°

अथ तपस्यतोऽपि संयम विनाऽपगतात्कर्मणो बहुतरस्योपादानं स्यादिति प्रदर्शयन् संयमाराधनां प्रति सुतरां साधूनुद्यमयितुं तत्फलं पूजातिशयसमग्रं त्रिजगदनुग्राहकत्वं तेषामुपदिशति -

कुर्वन् येन विना तपोऽपि रजसा भूयो हताद्भूयसा

स्नानोत्तीर्ण इव द्विपः स्वमपधीरुद्धूलयत्युद्धुरः°

यस्तं संयममिष्टदेवतमिवोपास्ते निरीहः सदा

किं कुर्वाणमरुद्गणः स जगतामेकं भवेन्मडलम्° १८१°

रजसा : पापकर्मणा रेणुना च° हताद् - अपनीताद् द्रव्यकर्मणो रेणोञ्च° भूयसा - बहुतरेण°  
उद्धुरः - मदोदिक्तः° उक्तं च -

सम्माइडिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होइ°

होदि खु हत्थिण्हाणं वुंद छुदगं वतं तस्स° [ भ. आ. ७ गा. ]

जैसे मथानीकी रस्सी मथानीको बाँधती भी है और खोलती भी है उसी प्रकार संयमके बिना अर्थात् हिंसादिमें और विषयोंमें प्रवृत्तिके साथ कायक्लेशरूप तपको करनेवाला जीव भी बन्धके साथ निर्जरा करता है° इसलिए धीर पुरुषोंको उस संयमकी आराधना करनी चाहिए° १८०°

विशेषार्थ - निश्चयसे रत्नत्रयमें एक साथ प्रवृत्त एकाग्रताको संयम कहते हैं और व्यवहारमें प्राणियोंकी रक्षा और इन्द्रियोंके नियन्त्रणको संयम कहते हैं<sup>६</sup> दोनों संयम होनेसे ही संयम होता है<sup>६</sup> अतः व्यवहार संयमपूर्वक निश्चय संयमकी आराधना करनी चाहिए तभी तपस्या भी फलदायक होती है<sup>६</sup> ८०<sup>६</sup>

संयमके विना तप करनेपर भी जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे अधिक कर्मोंका संचय होता है, इस बातको दिखाते हुए साधुओंको स्वयं संयमकी आराधनामें तत्पर करनेके लिए संयमका फल बतलाते हैं -

जिस संयमक बिना तपश्चरण भी करनेवाला मदमत्त दुर्बुद्धि पुरुष स्नान करके निकले हुए हाथीकी तरह निर्जीण कर्मोंसे भी अधिक कर्मोंसे अपनेको लिप्त कर लेता है, उस संयमकी जो सदा लाभादिकी अपेक्षा न रखकर इष्टदेवताकी तरह उपासना करता है वह संसारके प्राणियोंके लिए उत्कृष्ट मंगलरूप होता है अर्थात् उसके निमित्तसे संसारके प्राणियोंके पापोंका क्षय और पुण्यका संचय होता है<sup>६</sup> तथा इन्द्रादि देवता उसकी सेवामें उपस्थित रहते हैं<sup>६</sup> १८१<sup>६</sup>

विशेषार्थ - जैसे हाथी सरोवरमें स्नान करके बाहर निकलनेपर जलसे जितनी धूल दूर हो जाती है उससे भी अधिक धूल अपने ऊपर डाल लेता है, उसी तरह असंयमी मनुष्य

किं कुर्वाणमरुद्गणः - किं करोमीत्यादेशप्रार्थनापरशक्रदिदेवनिकायः<sup>६</sup> एकं - उत्कृष्टं मुख्य-मित्यर्थः<sup>६</sup> मंगलं - पापक्षपणपुण्यप्रदाननिमित्तमित्यर्थः<sup>६</sup> १८१<sup>६</sup>

अथ तपसत्रारित्रेऽन्तर्भावमुपपादयन्नाह----

कृतसुखपरिहारो वाहते यच्चरित्रे  
न सुखनिरतचित्तस्तेन बाह्यं तपः स्यात्<sup>६</sup>  
परिकर इह वृत्तोपक्रमेऽन्यत्तु पापं  
क्षिपत इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्तः<sup>६</sup> १८२<sup>६</sup>

वाहते - प्रयतते<sup>६</sup> तेनेत्यादि<sup>६</sup> तदुक्तम् -

बाहिरतवेण होइ खु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता<sup>६</sup> [ भ. आ. २३७<sup>६</sup> ]

परिकरः - परिकर्म<sup>६</sup> अन्यत् - अभ्यन्तरं तपः क्षिपते - उपात्तं विनाशयति अपूर्व निरुणद्धि च<sup>६</sup>  
तदेव - वृत्तमेव<sup>६</sup> १८२<sup>६</sup>

अथोक्तमेवार्थ स्पष्टयन्नाह -

त्यक्तसुखोऽनशनादिभिरुत्सहते वृत्त इत्यघं क्षिपति<sup>६</sup>  
प्रायश्चित्तादीत्यपि वृत्तऽन्तर्भवति तप उभयम्<sup>६</sup> १८३<sup>६</sup>

स्पष्टमिति भद्रम्<sup>६</sup> १८३<sup>६</sup>

तपस्याके द्वारा जितनी कर्मोंकी निर्जरा करता है उससे भी अधिक कर्मबन्ध कर लेता है<sup>६</sup> भगवती आराधनामें कहा भी है - असंयमी सम्यग्दृष्टिका भी तप महान् उपकारी नहीं होता<sup>६</sup> उसका वह तप हस्तिस्नान और मथानीकी रस्सीकी तरह होता है<sup>६</sup> १८१<sup>६</sup>

तपके चारित्रमें अन्तर्भावकी उत्तपत्ति बतलाते हैं -

यतः शारीरिक सुखका परित्याग करनेवाला व्यक्ति चारित्रमें यत्नशील होता है<sup>६</sup> जिसका चित्त शारीरिक सुखमें आसक्त है वह चारित्रमें यत्नशील नहीं होता<sup>६</sup> इसलिए बाह्य तप चारित्रके इस उपक्रममें उसीका अंग है<sup>६</sup> और अभ्यन्तर तप तो चारित्र ही है क्योंकि पूर्वबद्ध पापकर्मका नाश करता है और नवीन बन्धको रोकता है<sup>६</sup> अतः दोनों ही प्रकारका तप चारित्रमें गर्भित होता है<sup>६</sup> १८२<sup>६</sup>

विशेषार्थ - तपके दो भेद हैं - अन्तरंग और बाह्य<sup>६</sup> ये दोनों ही चारित्रमें अन्तर्भूत होते हैं<sup>६</sup> उनमें - से अनशन आदि रूप बाह्य तप तो इसलिए चारित्रका अंग है कि उसका सम्बन्ध विशेष रूपसे शारीरिक सुखके प्रति अनासक्तिसे है<sup>६</sup> शारीरिक सुखमें आसक्त व्यक्ति भोजन आदिका त्याग नहीं कर सकता और ऐसी स्थितिमें वह चारित्र धारण करनेके लिए उत्सुक नहीं हो सकता<sup>६</sup> तथा अन्तरंग तप तो मनका नियमन करनेवाला होनेसे चारित्र रूप ही है<sup>६</sup> चारित्रका मतलब ही स्वरूपमें चरणसे है<sup>६</sup> इन्द्रियजन्य सुखसे आसक्ति हटे बिना स्वरूपमें रुचि ही नहीं होती प्रवृत्ति तो दूरकी बात है<sup>६</sup> १८२<sup>६</sup>

आगे इसीको स्पष्ट करते हैं -

शारीरिक सुखसे विरक्त साधु अनशन आदिके द्वारा चारित्र धारण करनेमें उत्साहित होता है और प्रायश्चित आदि तप पापको नष्ट करता है अतः दोनों ही प्रकारका तप चारित्रमें अन्तर्भूत होता है<sup>६</sup> १८३<sup>६</sup>

इत्याशाधरदृढ्यायां स्वोपज्ञधर्मा मृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां

चतुर्थोऽध्यायः<sup>६</sup>

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणमेकादशशतानि<sup>६</sup> अङ्कतः ११००<sup>६</sup>

स्वसित स्तात् समस्तजिनयशासनाय<sup>६</sup>

इस प्रकार पं. आशाधर विरचित अनगार धर्मा मृतकी भव्य कुमुदचन्द्रिका तथा

ज्ञानदीपिका नामक पंजिकानुसारिणी भाषाटीकामें सम्यक् चारित्राराधना

नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ<sup>६</sup>